पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका
अंक : 40 मई-जून 2012

संपादक
भारत भारद्वाज

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 40 मई–जून, 2012

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)–442005
फोन : 07152–232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

प्रकाशन प्रभारी :
डॉ. बीर पाल सिंह यादव
email : bpsjnu@gmail.com
फोन : 07152–232943 मो. : 08055290240

प्रचार-प्रसार :
रामप्रसाद कुमरे
email : ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152–232943 मो. : 09552114176, 09406546762

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ₹ 20
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120
चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹ 145 और द्वैवार्षिक ₹ 265 म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा को भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें। रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो. 09212796256)।

प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. गांधी हिल्स, वर्धा–442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152–232943

संपादकीय संपर्क :
211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज–I, दिल्ली–110091
मो.–09313034049 (संपादकीय)
टेली.–011–42151470

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, बी–25, डीएसआईडीसी कॉम्पलेक्स, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली–110095 (09212796256)

आवरण कृति : पाब्लो पिकासो (दो युवतियां पुस्तक के साथ, तैलरंग)

संयोजन : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: **अज्ञेय और 'रूपाम्बरा'**	4
उपन्यास	: **'दोन किखोते' : एक औपन्यासिक कृति का अमर हो जाना**/ सुनील कुमार यादव	5
	: **परछाइयों का कोलाज—'मंडली'**/पुनीत कुमार	7
	: **जीवन-मूल्यों के निर्माण का संघर्ष**/निरंजनदेव शर्मा	9
	: **स्त्री-पुरुष संबंधों की पड़ताल**/राजा खुगशाल	11
कहानी	: **चुप्पियों की आवाज**/प्रेम भारद्वाज	14
	: **कहानी के चौखटों में 'लोकरंगी प्रेमकथाएं**/प्रेमचंद सहजवाला	16
कविता	: **अमरीका का वह निराला कवि : वाल्ट ह्विटमन्**/भारत यायावर	18
	: **गूलर का फूल न हो जाना, प्रेम!**/ओम भारती	20
	: **समय का सच एवं उसकी चुनौतियां**/नरेंद्र पुंडरीक	21
आलोचना	: **हिंदी का लोकवृत्त : एक दस्तावेज़ी खोज**/रामशंकर द्विवेदी	23
	: **आयातित संदर्भों के बरक्स**/श्रीभगवान सिंह	26
	: **बेमेल मिश्रण का नमूना**/योगेश प्रताप शेखर	28
	: **कहानी की समकालीन चुनौतियां**/राजेंद्र दानी	29
	: **आलोचना और रचना की उलझनें**/दिनेश कुमार	31
यात्रा	: **त्रांदाइम में ट्राम**/राजेंद्र उपाध्याय	34
राजनीति	: **फिलस्तीनियों पर बढ़ती हुई इस्राइली**/अरशी खान	35
अध्ययन	: **सरोकारों की शिक्षा और शिक्षा का सरोकार**/कमलेश कुमार यादव	38
संस्कृति	: **ऐतिहासिक साक्ष्य एवं सांस्कृतिक गवाक्ष**/रणजीत साहा	40
शिक्षा	: **मोंतेस्सोरी और बाल-शिक्षण**/शिवरतन थानवी	43
साक्षात्कार	: **संस्कृति-साहित्य और सिनेमा का संगम**/महावीर अग्रवाल	45
डायरी	: **तारीखों में ठिठकी कुछ सघन, स्याह स्मृतियां**/नीलाभ कुमार	47
रचनावली	: **गोयनका के प्रेमचंद**/महावीर अग्रवाल	49
विमर्श	: **विकास के भ्रम**/प्रेमपाल शर्मा	52
पत्रकारिता	: **टेलीविजन रिपोर्टिंग पर एक सार्थक पहल**/राकेश शुक्ला	54

अज्ञेय और 'रूपाम्बरा'

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में यह विरल सुखद संयोग था कि पिछले वर्ष हमने चार महत्वपूर्ण कवियों—अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन और केदार की जन्मशती मनाई। देश के कोने-अंतरे में अनेक आयोजन हुए। अज्ञेय पर विदेश में भी। इस अवसर पर सरकारी, गैर-सरकारी शिक्षण संस्थानों एवं व्यक्तिगत प्रयासों से भी असंख्य राष्ट्रीय संगोष्ठियां आयोजित की गईं। अनेक पुस्तकें लोकार्पित हुईं। एकाध पुस्तक अनेक बार। इन कवियों की कविताओं पर बहस-मुबाहसें और विमर्श हुए। कुछ कवियों का मूल्यांकन किया गया तो कुछ का पुनर्मूल्यांकन। एक अच्छी बात यह हुई कि हमने अज्ञेय के कवि-व्यक्तित्व के बारे में पूर्व व्यक्त की गई अपनी धारणाओं में संशोधन ही नहीं किया बल्कि माना कि 'अपने दौर के सबसे बड़े कवि थे अज्ञेय' (डा. नामवर सिंह)। किसी कवि की जन्मशती वर्ष का नई पीढ़ी को एक बड़ा लाभ यह मिलता है कि उस कवि की अप्राप्य रचनाएं सुलभ हो जाती हैं और पुनर्मूल्यांकन का एक नया सिलसिला शुरू होता है।

जन्मशती वर्ष में हमने अज्ञेय की रचनात्मकता के अनेक ओर-छोर पर विचार किया उनकी ही प्रसिद्ध कविता 'तनी हुई रस्सी पर चलते हुए'। लेकिन हम भूल गए अज्ञेय द्वारा संपादित विलक्षण खूबसूरत ग्रंथ 'रूपाम्बरा' को। छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की षष्ठिपूर्ति पर 1960 ई. में इस पुस्तक का पहला संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से निकला था। तब इस पुस्तक का मूल्य था—12 रुपये और पृष्ठ संख्या थी लगभग 450। 'रूपाम्बरा' को 'आधुनिक हिंदी के प्रकृति-काव्य का संकलन एवं विवेचन' कहा गया था। संकलनकर्ता और संपादक थे सच्चिदानंद वात्स्यायन और सहायक संपादक थे सर्वेश्वरदयाल सक्सेना। समर्पण इन शब्दों में 'यह ग्रंथ श्री सुमित्रानंदन पंत की षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य में प्रस्तुत किया गया और हिंदी जगत की शुभाशंसाओं के प्रतीक के रूप में सादर उन्हें अर्पित है'।

'रूपाम्बरा' में अमीर खुसरों (1255-1324) से लेकर तीसरा सप्तक की 25 वर्षीया युवा कवयित्री कीर्ति चौधरी (1935-2008) तक 101 कवियों की प्रकृति-परक कविताएं संकलित हैं। लगभग 700 वर्षों की इस लंबी काव्य-यात्रा में शायद ही कोई उल्लेखनीय कवि छूटा होगा। अज्ञेय ने इस संकलन को तैयार करने में कितना श्रम किया होगा, पुस्तक देखकर सहज ही इसका अनुमान किया जा सकता है। आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में अज्ञेय का यह दुर्लभ प्रयोग है। पुस्तक की क्रम-सूची भी दिलचस्प है। रूप-श्री/पहला अवतरण : विभावन/भूमिका-प्रकृति-काव्य : काव्य प्रकृति। 'विभावन' के अंतर्गत अमीर खुसरो से लेकर श्यामनारायण पांडेय ('हल्दी घाटी' महाकाव्य), दूसरा अवतरण : भावन में श्रीधर पाठक से लेकर राजेंद्र प्रसाद सिंह और अंतिम तीसरा अवतरण : अनुभावन में केसरी कुमार से लेकर कीर्ति चौधरी की कविताएं संकलित हैं। इस पुस्तक के बारे में एक रोचक और दिलचस्प बात यह है कि नरेश कुमार मेहता (जन्म : 1924) ने अज्ञेय को इस पुस्तक में अपनी तीन कविताएं संकलित करने की अनुमति नहीं दी थी। 'रूपाम्बरा' के 317 पृष्ठ को नरेश मेहता की तीन कविताओं 'मालवी फागुन' ('वनपाखी सुनो' से), पीले फूल कनेर के ('वनपाखी सुनो' से) और 'किरण-धेनुएं' ('दूसरा सप्तक' से) के शीर्षक देकर इस टिप्पणी के साथ खाली छोड़ दिया गया है (कवि की ओर से प्रकाशन की अनुमति देने की असमर्थता प्रकट की जाने के कारण ये कविताएं संकलन में न दी जा सकीं संपादक)

पहली बार 1960 में पुस्तक छपते ही मैंने देखी थी। अज्ञेय ने पटना के कवि रामगोपाल 'रुद्र' की एक कविता 'भोले कुसुम भूले कुसम' इसमें संकलित की थी और छपते ही पुस्तक की एक प्रति कृपापूर्वक भेजी थी। उनसे ही मेरे अग्रज नंदकिशोर नवल ने यह पुस्तक ली होगीं संयोगवश रुद्रजी की जन्मशती का यह वर्ष भी है।

संभवतः दूसरी बार यह पुस्तक मुझे दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी में 1990 में देखने को मिली। तभी मैंने इसके आरंभिक बीस पृष्ठों की फोटोप्रति करवाई थी। पिछले दिनों ठीक 20वें विश्व पुस्तक मेला के पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक एवं 'नया ज्ञानोदय' के संपादक रवीन्द्र कालिया के सौजन्य से यह पुस्तक समीक्षार्थ मिली। बहुत आकर्षक डिमाई कलेवर एवं नयनाभिराम

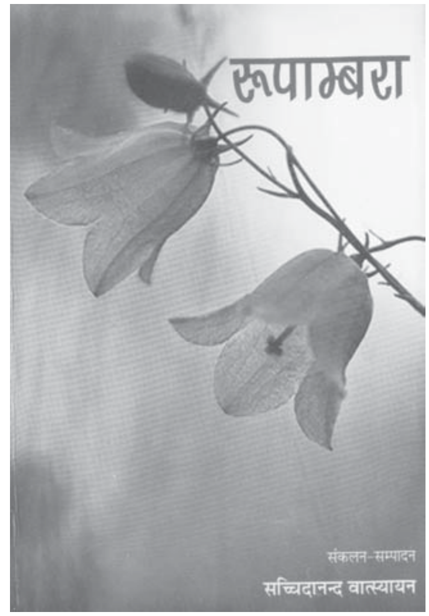

प्रस्तुतीकरण के साथ प्रकाशित इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या अब 384 है और पुनर्नवा संस्करण का मूल्य है 390 रु.। इस संस्करण में कुछ परिवर्तन किए गए हैं। भीतर के पृष्ठ पर सच्चिदानंद वात्यायन के आगे 'अज्ञेय' जोड़ दिया गया है। एक बड़ा परिवर्तन यह किया गया है कि अज्ञेय ने नरेशकुमार मेहता की जिन तीन कविताओं के शीर्षक देकर अनुमति न मिलने के कारण छोड़ दिया था, उनमें से दो कविताएं 'पीले फूल कनेर के' एवं किरन धेनुएं' इस संस्करण में प्रकाशित हैं। मैं इसके औचित्य में न जाकर सिर्फ यह संकेत करना चाहता हूँ कि नई पीढ़ी के रचनाकार एवं पाठक इस प्रसंग को विस्मृत ही कर देते यद्यपि साहित्यिक विवाद की दृष्टि से इसे ओझल नहीं किया जा सकता।

□□ इस बीच नोबेल पुरस्कार विजेता कवयित्री विस्तावा शिम्बोर्स्का, कथाकार विद्यासागर नौटियाल, शायर शहरयार, रंगकर्मी अलखनंदन, प्रभुनाथ सिंह आजमी (भोपाल) एवं फादर कामिल बुल्के के अनन्य सहयोगी प्रो. दिनेश्वर प्रसाद (रांची) हमारे बीच नहीं रहे। उन्हें हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि।

‘दोन किखोते’ : एक औपन्यासिक कृति का अमर हो जाना

सुनील कुमार यादव

विश्व-साहित्य के इतिहास में स्पेन के लेखक ‘मिगेल दे सेरवान्तेस’ की अद्‌भुत रचना ‘दोन किखोते दे ला मान्चा’ को ‘उपन्यासों की जननी’, उपन्यास विधा की सर्वप्रथम पुस्तक, ‘उपन्यासों का उपन्यास’ आदि की संज्ञा दी जाती रही है। दो भाग में रचित इस पुस्तक का पहला भाग सन् 1605 ई. में प्रकाशित हुआ। 2005 में इसके 400 वर्ष पूरे होने पर बड़े उत्साह से साहित्यप्रेमियों ने इस महान कृति को याद किया। कालजयी कृतियां हर समय अपने को प्रासंगिक बनाए रखती हैं। 400 वर्षों से दुनिया के साहित्यप्रेमियों के बीच बड़ी उत्सुकता से पढ़ी जाने वाली यह पुस्तक अपने प्रकाशन के साथ ही बेस्ट सेलर बन गई थी और आज भी उसी तरह लोकप्रिय है। समझा जाता है कि बाइबिल के बाद यह दुनिया की सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली पुस्तक है, जिसका दुनिया की लगभग हर भाषा में अनुवाद किया जा चुका है।

इस उपन्यास के 400 वर्ष पूरा होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण इसकी विषयवस्तु है, जो इसे इसके लेखन के समय से लेकर आज तक लोकप्रिय बनाए हुए है। मूल स्पेनी से इसका हिंदी अनुवाद किया है प्रोफेसर विभा मौर्य ने। प्रोफेसर विभा मौर्य किसी परिचय की मोहताज नहीं हैं, उन्होंने नोबेल पुरस्कार विजेता जुजे सारामागु के बहुचर्चित और क्लिष्ट उपन्यास ‘लिस्बन की घेराबंदी का इतिहास’ का बेहतरीन अनुवाद करके अपने को स्थापित किया था। उन्हें स्पेनी भाषा एवं साहित्य की अमूल्य सेवा के लिए ‘पाब्लो नेरूदा’ सम्मान से नवाजा गया। उन्होंने इस उपन्यास के अनुवाद के संदर्भ में लिखा है कि ‘‘मैंने इस रचना का अनुवाद करते समय अपने सामने केवल दो उद्देश्य रखे थे : पहला इसे हिंदी पाठक के लिए सुगम एवं पठनीय बनाना और दूसरा इस कथा में मौजूद हास्य-व्यंग्य को हिंदी-पाठक तक हर हालत में पहुंचाना। इस क्रम में मैंने समकालीन हिंदी भाषा का प्रयोग किया है, क्योंकि जितने भी अंग्रेजी के अनुवाद मैंने देखे हैं, उसमें चार सौ साल पुरानी भाषा का प्रयोग टैक्स्ट को क्लिष्ट एवं अपठनीय बना देता है।...मेरा यह मानना है कि लेखक की शैली, सेरवान्तेस की विशेष रूप से और उसकी कला की मौलिकता केवल भाषा के रजिस्टर पर निर्भर नहीं करती, बल्कि वाक्य रचना, विचारों की सरलता या जटिलता, भाषा की गति-वेग, सघनता और शब्दों का चयन उसके अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं। ...अनुवाद का संबंध केवल भाषा से नहीं होता, बल्कि वह पूरी वैचारिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था व इतिहास में स्थित प्रक्रिया है।’’

प्रो. विभा मौर्य के उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह ज्ञात होता है कि वे इस कृति की मूल

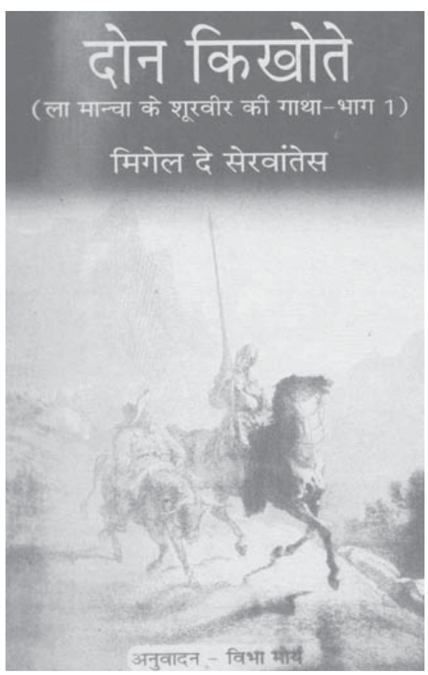

संवेदना को दूसरी भाषा में अभिव्यक्त करते हुए भी, बचाने के लिए प्रतिबद्ध हैं, लेकिन एक अनुवादक की प्रतिबद्धता की सीमा भी होती है, जिसके बारे में विभाजी लिखती हैं कि ‘‘सेरवान्तेस की शैली को पूरी तरह हिंदी में उतारने का दावा मैं कतई नहीं कर रही हूं, पर इतनी कोशिश जरूर रही है कि हिंदी पाठकों के सामने लेखक की आख्यान तकनीक, वाक्य रचना की मौलिकता, विद्धत सूचना का भंडार व शब्द-चयन आदि जैसे मूल तत्त्वों की पुनर्रचना कर पेश की जाए।’’ इस उपन्यास से गुजरते हुए यह महसूस होता है कि अनुवादक इसके मूल टेक्स्ट में अभिव्यक्त समाज तथा सांस्कृतिक स्थितियों को बचाए रखने के लिए एक-एक शब्द से किस ढंग से जूझ रही हैं। निश्चित ही एक महाकाव्यात्मक आख्यान से भरपूर इस भारी-भरकम उपन्यास का अनुवाद चुनौतीपूर्ण था, पर अनुवादक विभाजी ने इसे बखूबी स्वीकार किया है और निभाया भी है।

‘दोन किखोते’ के रचनाकार ‘मिगेल दे सेरवान्तेस सावेद्रा’ (1547-1616) को किसी परिचय की दरकार नहीं है। वे स्वयं लेखन का पर्याय बनकर उभरे, उनके लेखन में बौद्धिकता की ऊंचाई और संवेदना की गहराई अपने चरम पर है। उन्होंने लेखन और कथावाचन को न केवल समृद्ध किया है, बल्कि आदर्श लेखक की अपनी परिभाषा को भी मूर्त रूप दिया है। अपने व्यक्तित्व और चिंतन के विभिन्न आयामों को उन्होंने ‘दोन किखोते’ के विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्वों के रूप में उकेरा है। उनके शब्दों में समरूप, समरूप को ही जन्म देता है। 52 अध्यायों तक फैले इस विस्तृत आख्यानपरक उपन्यास में मानव-जीवन और समाज के हर पहलू का इतना सफल चित्रण हुआ है कि वह समय के साथ तमाम उथल-पुथल के बावजूद आज भी हर देश और

काल में उतना ही प्रासंगिक है, जितना अपने समय में था। इसमें एक ओर जहां पाठक के लिए भरपूर मनोरंजन का सामान है, वहीं मानवीय संबंधों का मार्मिक और यथार्थपरक चित्रण वैचारिक और संवेदना के स्तर पर मन को छू लेता है और इसीलिए उपन्यास सतही और गंभीर, दोनों पाठकों को समान रूप से प्रभावित करता है।

उपन्यास का नायक 'दोन किखोते' ''साल के अधिकतर माह खाली ही रहता था, इसलिए वह शूरवीरों की गाथाएं पढ़ने में ही समय व्यतीत करता था, उन्हें इतने प्रेम और अनुराग से भावविभोर होकर पढ़ता कि कुछ ही समय में शिकार पर जाना अपनी खेती-बाड़ी की देखरेख करना आदि'' सब भूल जाता। इन गाथाओं का असर उसके दिमाग पर इस तरह छाया हुआ था कि वह हर समय शूरवीरों की दुनिया में ही खोया रहता। ''उसकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो चुकी थी कि उसके मन में ऐसे विचित्र विचार आने लगे, जो शायद मतवालों के जीवन के इतिहास में भी अनोखे माने जाएंगे, उसे ऐसा प्रतीत होता था कि वह सब अनिवार्य था कि उसका आदर बढ़े और वह अपने गणतंत्र की सेवा करे, इसलिए घुमंतु शूरवीर सामंत बनकर, हथियारों से लैस अपने घोड़े पर सवार हो, पूरी दुनिया की यात्रा करने में अपनी जिंदगी लगा दे। उन सभी प्रकार के साहसिक कार्यों में भाग ले, जिनमें शूरवीर सामान्यतः भाग लेते हैं, जिनका जिक्र निरंतर उन गाथाओं में होता रहा है।'' (पृष्ठ 35) और एक दिन दोन किखोते जिसे लामान्चा का शूरवीर कहलाने की बहुत बड़ी सनक थी, अपने परदादाओं के हथियारों को साफ कर तथा उससे लैस होकर, अपने सामरिक अभियान पर निकल पड़ता है। 52 अध्यायों तक विस्तृत उसका सामरिक अभियान हास्यस्पद दृश्यों से भरपूर है। उसके शूरवीर बनने का स्वप्न तथा बातें उसके स्वभाव एवं शरीर के बिलकुल विरोधी थीं। इसीलिए उसका अस्त्र-शस्त्र से लैस होना तथा बड़ी-बड़ी बातें करना किसी विक्षिप्त व्यक्ति की तरह प्रतीत होता है तथा उसे हास्यास्पद भी बना देता है। पूरे आख्यान का मुख्य लक्ष्य पाठकों का मनोरंजन ही है जैसा कि आख्यानकार ने लिखा है कि ''तुम यह भी प्रयास करो कि तुम्हारी कहानी पढ़ विषादग्रस्त व्यक्ति हँसने लगे और जो मुस्करा रहा है, वह खिलखिलाकर हँस पड़े, साधारण आदमी तुम्हारी कल्पना व आख्यान से प्रभावित हो जाए, गंभीर प्रवृत्ति का व्यक्ति उसकी बुराई न कर सके और चतुर पाठक उसकी बड़ाई न करने से कतराए।'' (भूमिका से)

लेकिन इस कृति का महत्त्व इससे कतई कम नहीं होता कि यह एक ऐसी दास्तान है, जिसमें हास्य-व्यंग्य के माध्यम से शूरवीरों के जीवन का काल्पनिक संसार निर्मित करने की कोशिश की गई है, बल्कि इस आख्यान का एक सामाजिक सरोकार भी है, इसमें हर प्रकार की पीड़ित तथा दमित मानवता के खिलाफ इन्सान के खड़े होने की ताकत का भी अहसास होता है, भले ही ये ''घूमंतु शूरवीर वह चीज है, जो पल में माशा और पल में रत्ती हो जाते हैं, अभी उसे धुना गया और अभी वह सम्राट बन गया। आज वह इस दुनिया का सबसे बदकिस्मत व्यक्ति हो सकता है, पर कल उसके पास दो-तीन राज्यों के राजमुकुट होंगे।'' (पृष्ठ 160) इस तरह के शूरवीरों का काल्पनिक संसार आख्यानकार की कल्पना की शक्ति को इस तरह उभारता है कि आगे आने वाली पीढ़ियां उसका अनुसरण करती हैं।

मिगेल सेरवान्तेस ने 'दोन किखोते' के चरित्र-निर्माण में बेहतरीन सफलता पाई है। शूरवीरों की जीवनगाथाओं से दोन किखोते इस तरह प्रभावित है कि सराय का मालिक उसे किलाधीश नजर आता है, वेश्याएं दुनिया की सबसे खूबसूरत सेविकाएं। अपनी प्रत्येक गतिविधि से वह पाठकों को चमत्कृत कर देता है तथा खूब हँसाता है। वास्तव में इस उपन्यास की लोकप्रियता का यह सबसे बड़ा कारण है कि वह पाठकों को भरपूर मनोरंजन के साथ आनंद का साधन भी मुहैया करता है। आख्यानकार इसमें जगह-जगह गीतों की सर्जना करके इसकी पठनीयता को और बढ़ा देता है, जैसे कि दोन किखोते यह रोमांटिक गीत गाता है—

> इस धरती पर शायद ऐसा शूरवीर न था
> जिसकी युवतियों ने की हो इतनी सेवा
> वह था सामंत दोन किखोते (पृष्ठ 45)

इस बृहद आख्यानपरक उपन्यास से गुजरते हुए तत्कालीन समय के समाज, संस्कृति, साहित्य तथा राजनीतिक घटनाओं का भी साक्षात्कार होता चलता है। यह कृति एक महत्त्वपूर्ण विमर्श को भी उठाती है। वह विमर्श है लोकप्रिय साहित्य और गंभीर साहित्य का। इस विमर्श के अतिरिक्त इसमें साहित्य की अन्य विधाओं जैसे नाटक, कविता की विषय-वस्तु पर भी गंभीर बहस है। इसके लिए उपन्यासकार ने उसी संवाद-शैली का प्रयोग किया है, जिसका प्रयोग मुक्तिबोध 'एक साहित्यिक की डायरी' में, महात्मा गांधी 'हिंद स्वराज' में करते हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण शैली है, किसी गंभीर विषय पर अपनी बात रखने के लिए। साहित्य का उद्देश्य क्या केवल मनोरंजन हे या उसके कुछ गंभीर सामाजिक उत्तरदायित्व भी हैं? क्या गुलशन नंदा के उपन्यास 'झील के उस पार' को प्रेमचंद के 'गोदान' से इस अर्थ में श्रेष्ठ माना जाएगा कि वह छपते ही पांच लाख प्रतियों की बिक्री के साथ लोकप्रिय हो गया था? लोकप्रिय साहित्य और गंभीर साहित्य के ये प्रश्न बहुत ही चर्चित एवं प्रासंगिक रहे हैं। 'मिगेल दे सेरवान्तेस' ने 'दोन किखोते' के 48वें एवं 49वें अध्याय में इस पर गंभीर बहस की है। वह नाटक को लक्ष्य करके लिखता है, ''एक अच्छा नाटक अपना लक्ष्य ज्यादा अच्छी तरह से पा सकेगा, बजाय बुरे नाटक के एक सुनियोजित अच्छे वार्तालाप के द्वारा दर्शकगण अधिक प्रसन्न हो मजाक आदि समझ पाएंगे, उसकी अच्छाई से कुछ सीखेंगे, लेकिन निर्माता केवल वही नाटक प्रस्तुत करना चाहता है, जो बिकता है, इसलिए रचनाकार को भी निर्माता की इच्छा के अनुरूप चलना पड़ता है, क्योंकि वही उसका अन्नदाता है।'' (पृष्ठ 565) यह एक लेखक के जीविका के संघर्ष को भी व्याख्यायित करता है।

400 वर्षों में दुनिया कहां से कहां चली गई, मनुष्य धरती क्या, चांद तक घूम आया। मानवता का इतिहास अपने तमाम रंगों के साथ विकसित होता रहा और मानवता के इतिहास के साथ 'मिगेल द सेरवान्तेस' की यह कृति भी अमर हो गई।

दोन किखोते (भाग-1)/मिगेल दे सेरवान्तेस/मूल स्पेनी से अनुवाद : विभा मौर्य/कनफ्लुएंस इंटरनेशनल, 203/ई588, जी.के.-2, नई दिल्ली-110048/मूल्य : ₹ 250 (पेपरबैक)

शोधछात्र, साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अं.हिं.वि.वि., वर्धा (महाराष्ट्र)

परछाइयों का कोलाज 'मंडली'

पुनीत कुमार

यह मुद्दा वास्तव में यक्ष प्रश्न के संबोधन का हकदार है कि आजादी के बाद का हिंदुस्तान व्यक्तिगत दृष्टि से अधिक स्वकेंद्रित है या 1947 के पहले का भारतवर्ष अधिक स्वार्थी था। कई विश्वसनीय सूत्रों के हवाले से यह स्वीकारा जा सकता है कि सन् सैंतालीस के पहले आर्यावर्त के अनेक घरों के हिस्सों और बर्तन-भांडों की भी जाति व धर्म होते थे, जो सिर्फ अपनी जाति के लिए ही इस्तेमाल होने का हक रखते थे। फिर भी उस दौर के इन्सानी रिश्तों और भाईचारे की अनेक मिसाल आज भी दंत-कथाओं की शक्ल में माहौल में तैरती देखी जा सकती हैं। इक्कीसवीं सदी का भारत जिस प्रकार जाति, संप्रदाय और क्षेत्रवाद के खांचों में बंटा हुआ है और जिस प्रकार संबंधों में अविश्वसनीयता के खतरों से बिंधा हुआ है, वह निश्चय ही इस सवाल से जूझने का हौसला देता है कि आजादी के बाद का हिंदुस्तान अधिक स्वार्थी है या 1947 के पहले का? आजादी मिलने के तुरंत बाद तत्कालीन नेतृत्व के साथ-साथ आम हिंदुस्तानी भी अपने स्वतंत्रता दिवस को जिस हौसले और बलबले से देख रहा था, उसी का यह नतीजा था कि आर्थिक, राजनीतिक, प्रौद्योगिक और शैक्षणिक समस्त क्षेत्रों में प्रयोगों का एक सिलसिला शुरू कर दिया गया। इन प्रयोगों की सफलता कहां तक मूर्त हुई है, उदारीकरण के प्रति शासक वर्ग की आसक्ति स्वयमेव इस कथा को कहती है। आजादी के बाद इन्सानी मूल्यों और विश्वसनीयता की साख का जो संकट पनपता गया है, उसका एक प्रमुख कारण राजनीतिक मूल्यविहीनता है। येन-केन-प्रकारेण सत्ता सुख प्राप्त करने की मानसिकता ने आजाद हिंदुस्तान के भाईचारे को सोखा है। त्रासदी यह है कि वर्तमान राजनीतिक वातावरण भी किसी प्रकार की संभावनाओं के प्रति आश्वस्त नहीं करता है।

'मंडली' वरिष्ठ कथाकार पुन्नी सिंह का वह औपन्यासिक अभिलेख है, जो इस सत्य को साहित्यिक तेवर के साथ रेखांकित करता है कि भारतवर्ष की आत्मा, एक कालखंड में जिन गांवों में बसती थी और उस 'आत्मा' का स्पंदन जिस अखलाक और मौहब्बत के आधार पर होता था, उसके रेशे-रेशे को उधेड़ने का काम, सबसे खतरनाक ढंग से राजनीतिक हथकंडों ने प्रारंभ किया अर्थात् जिसे भाईचारे और आपसी संबंधों को मजबूत करना था, उसी ने उसे कमजोर किया। 'मंडली' लेखक का छठवां उपन्यास है, जिसे पढ़कर भी यह देखा जा सकता है कि लेखक उस आवाम के साथ मुस्तैद है, जो राजनीतिक बिसात पर सिर्फ इस्तेमाल होने के लिए अभिशप्त है।

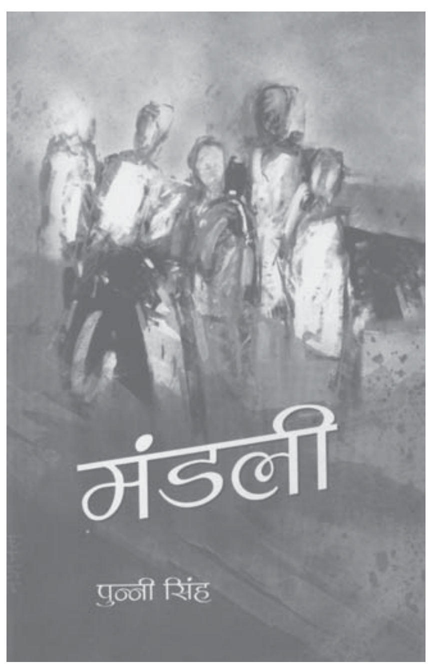

'मंडली' उपन्यास की कथा आजादी के बाद शुरू किए गए जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, सीलिंग कानून और पंचायत चुनाव जैसे प्रयोगों, उनके प्रभावों और उनके दुरुपयोगों जैसे दृश्यों को समेटे हुए है। पात्रों में संपदा को देवी शिरोधार्य कर राजनीतिक छल-प्रपंच को अंजाम देने वाले पात्र हैं तो दूसरी ओर कुछ ऐसे पात्र हैं, जो इस छल-प्रपंच का अनजाने में आखेट हो रहे हैं। कुछ चरित्र इस उपन्यास में ऐसे भी हैं, जो सबकुछ जानते हुए भी हालात की मजबूरी के कारण शतरंज के मोहरे होने पर विवश होते हैं। एक समय में नाटक-नौटंकी, रामलीला, रासलीला, आल्हा और मंडली गांवों की जान हुआ करते थे। इनकी विभिन्न प्रकार की प्रस्तुतियों के कारण भी ग्राम्य-जीवन सजीव और जीवंत होता रहता था, तो गांवों के जन इन्हीं सांस्कृतिक माध्यमों से खुद के जिंदा होने का सबूत देते रहते थे, मगर जब पंचायत चुनाव ऐय्यारी और मक्कारी के बूते पर लड़े जाने लगे और सरकारी जमीनों की बंदरबांट दिनचर्या जैसी बात होने लगीं तो ग्रामीण-जीवन जैसे सुकुमार तंतु स्वार्थ, लालसा और सांप्रदायिकता का आखेट हो गए, फलतः गांवों से कुटीर उद्योगों और उन सांस्कृतिक बिंबों का लोप होने लगा, जो भारतीय ग्राम्य-जीवन की पहचान थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि गांव शहर में तब्दील होने लगे। इस तब्दीली का एक चेहरा यह भी था कि स्नेह, प्रेम व भाईचारे का लोप व्यक्तिगत संबंधों से होता चला गया। स्नेह, प्रेम और भाईचारा जिन व्यक्तित्वों के लिए सरमाए की हैसियत रखते थे, वे निर्वासनग्रस्त मनोरोगी हो गए और एक समय ऐसा आया कि गांव मात्र अज्ञानता, अंधविश्वास, पिछड़ापन, संकीर्ण

राजनीति और काम-धंधों से महरूम कौमों की पहचान भर बन के रह गए हैं। पुन्नी सिंह के उपन्यास 'मंडली' का कथानक इन्हीं सब हादसों व वारदातों के इर्द-गिर्द घूमता रहता है।

'मंडली' को पढ़कर यह जाना जा सकता है कि हिंदुस्तानी गांवों के लिए यह क्यों कहा जाता रहा कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है। इस 'आत्मा' की बुनावट दरअसल भारतीय संस्कृति, सभ्यता, लोक परंपराओं, मानवीय मूल्यों और इन्सानियत इत्यादि के उन रेशों से होती है, जो पूर्णतः 'देसी' कहे जा सकते हैं। 'मंडली' का प्रत्येक पृष्ठ इस ठेठ देसीपन की सौंधी महक से गमक रहा है और अंतिम पृष्ठ आते-आते इस सौंधी महक के लुप्त हो जाने के कारणों को यह पुस्तक पूरी सफलता से रेखांकित करती है। उपन्यास की भाषाशैली कथानक के अनुरूप ठेठ गंवई है। कहावतों और मुहावरों का भरपूर प्रयोग लेखक ने किया है, जिससे संवादों में और अधिक चुटीलापन व कसावट आई है। प्रत्येक पात्र अपने 'देश' की भाषा पूरे अधिकार से बोलता दिखाई देता है। एक नमूना मुलाहिजा हो, ''....ऐ भौजी, जे लौड़ा नहीं है, जे तो छोरी है। तेरी जैसी। तो से एक-दो साल छोटी। जाको नाच देखेगी तो तलवा तले की जमीन खिसक जागी...अब दयाराम भैया के मन में जे बस गई है। तुम जो ज्यादा नखरे दिखाओगी तो भैया जा छोरी को अपने घर में रख लेंगे और तुम रेल-सी देखती रह जाओगी भौजी!'' पूरे उपन्यास में कई दृश्य प्रभावशाली हैं, चाहे वह सांप पकड़ने का हो या चाहे वह दृश्य सपरिवार रार करने का हो, चाहे पंचायत हो या मंडली द्वारा प्रस्तुत किया जाना वाला 'शो' हो, प्रत्येक का चित्रण पूरे अधिकार के साथ लेखक ने किया है। उपन्यास के कुछ दृश्यों की प्रासंगिकता पर प्रश्न खड़े हो सकते हैं तो कुछ स्थानों पर लेखक जल्दबाजी में भी नजर आता है, परंतु यह कहा जा सकता हे कि कतिपय कमजोरियों को उपन्यास का समग्र प्रभाव कथानक पर हावी किसी भी कीमत पर नहीं होने देता है। कुछ चरित्र उपन्यास समाप्त होने के बाद भी पाठक के मानस-पटल पर देर तक खड़े रहते हैं, जैसे प्रीतम, कस्तूरी, लालसुनार, हैदरअली, बिल्लौरी, लीलादेवी, नरेन्द्र और रामेश्वर इत्यादि।

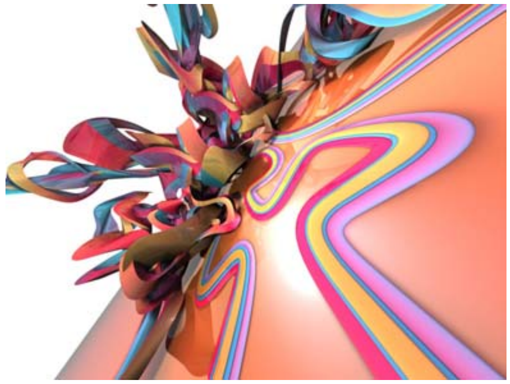

कालजयी दार्शनिक रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने विख्यात निबंध 'लोकहित' में लिखा है कि ''समाज का ऊपर का तबका मजे में है, क्योंकि आम जनता अपने को समझ नहीं पाती। इसीलिए 'जमींदार' उनको मार रहा है, 'महाजन' उनको पकड़ रहा है, 'मालिक' उनको गाली दे रहा है, 'गुरुबाबा' उनके सिर पर हाथ फेर रहा है और वे उस भाग्य को दोष दे रहे हैं, जिसको सजा नहीं दी जा सकती।'' गुरुदेव के इस निबंध के उद्धृत अंश में जमींदार के स्थान पर पूंजीपति, महाजन के बदले कारपोरेट सेक्टर, मालिक की जगह नौकरशाही और नेता तथा गुरु बाबा के स्थान पर संत, फकीर, फादर, ग्रंथी लिखने के बाद हिंदुस्तानी अवाम की नियति का चेहरा स्पष्ट होकर सामने आ जाता है। निश्चित ही प्रत्येक देश में राजनीति ही वह मूल कारक होती है, जो दूसरे क्षेत्रों की दिशा और दशा भी तय करती है। यदि किसी देश की राजनीति संकीर्णता से ग्रस्त हो जाती है, तो समाज में इस संकीर्णता का प्रस्फुटन अनेक रूपों में होता चला जाता है। 'मंडली' इस यथार्थ को प्रस्तुत करने में प्रत्येक पृष्ठ पर सफल हुई है। भारतीय ग्रामों की मात्र आर्थिक नहीं, सांस्कृतिक समृद्धि भी एक समय में स्पृहणीय थी, जिसे धीरे-धीरे लोभ और लालच की दीमक ने चट कर दिया है और ये दीमक राजनीति की बांबी से निकली है, पूरे उपन्यास में इस यथार्थ की प्रस्तुति बखूबी हुई है।

मंडली/पुन्नी सिंह/नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 250

एफ-5, प्रोफेसर कॉलोनी, शिवपुरी-473551 (म. प्र.) मो. 0925429428

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

जीवन-मूल्यों के निर्माण का संघर्ष

निरंजनदेव शर्मा

समाज की संरचना जटिल है। क्या-क्या रंग नहीं हैं समाज के। कितने ही अंतर्विरोध, कितने ही जीवन खंड, वर्ग के अंदर वर्ग, जाति के अंदर जाति। विचारधाराओं के बीच टकराहट। एक ही चीज है, जो समान रूप से सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित कर रही है। इस उपभोगतावादी समाज की प्रवृत्तियों को नीलधारा वाले बाबा भली प्रकार पहचानते हैं—

''तुम क्या समझते हो जीवन-मूल्यों का ह्रास केवल शहरों में ही हुआ है या उपभोगता संस्कृति केवल बाजार तक सीमित है। नहीं, लाभ लेना मनुष्य की प्रवृत्ति बन चुकी है। वो शहर में है या गांव में, मैदान में है या पहाड़ में, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता।''

हरिद्वार के प्लेटफार्म पर एक यात्री उतरता है बरसों बाद, बरसों से जो सवाल पीछा कर रहा है, उसका उत्तर तलाशने के लिए, जीवन के कई अनुभवों से गुजरकर फिर उस अनुभव को पाने के लिए, जो अपने आपको मानव मात्र की सेवा के लिए अर्पित करने से ही मिल सकता है। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में जिसके मायने गौण हो गए हैं, उस जीवन के अर्थ पाने के लिए मुक्ति अंतरसंघर्ष से गुजरता हुआ जीवन के निर्णायक मोड़ पर खड़ा है।

मुक्ति इस धर्म नगरी में नया नहीं है। एक अनाथ बालक के रूप में उसने विद्यार्थी जीवन यहीं गुजारा है। अपने बाल्यकाल में उसने धर्म के नाम पर होने वाले अनाचार, हिंसा, दिखावे और व्यापार को अपनी आंखों से देखा है। अंतर इतना है कि नगर में स्मृतियों के जीवंत होने पर उसकी परिपक्व दृष्टि उन घटनाओं का विश्लेषण बेहतर तरीके से कर सकती है। मुक्ति हमेशा सोचता है कि यह कैसा द्वार है, जहां मुक्ति की कामना लिए लोग आस्था के सैलाब में बहते चले जाते हैं।

''...हजारों हजार अराजक संन्यासियों को गंगा में डुबकी लगाते हुए देखा है। छत्र की छाया में रथों पर बैठे महंतों को ऐंठते और इतराते हुए देखा है। हिंसक नगा साधुओं को मार-पीट पर उतारू होते और विश्वास के मारे हुए भोले-भाले लोगों को इनकी चरणधूलि लेते हुए देखा है।''

मुक्ति की शंकाओं का निराकरण सदा नीलधारा वाले बाबा की कुटिया में होता है।

सेठानी की मृत्यु के बाद अनाथ मुक्ति धन्नी और धन्नी मां के संरक्षण में पलता है। उनका अपना बेटा काल का ग्रास बन चुका है। धन्नी का इस एकाकीपन को दूर करने के लिए पालतू जानवरों से बतियाना और मछलियों के लिए आटे की गोलियां तैयार करते हुए

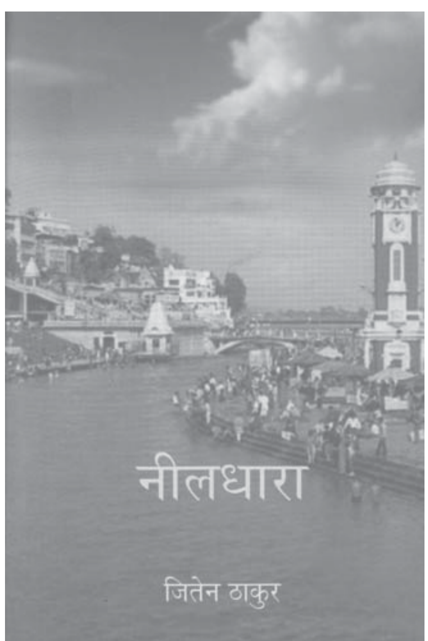

उनकी भूख की चिंता करने का बहुत ही स्वाभाविक वर्णन जितेन ठाकुर ने उपन्यास में किया है।

जीवन-मृत्यु के रहस्यों को जानने हेतु कर्म और वैराग्य पर स्पष्ट चिंतन उपन्यास में मौजूद है। चमगादड़ टापू पर एकांत साधना करते हुए जीवन-मृत्यु के रहस्यों की गुत्थी सुलझाने वाला संन्यासी नदी में बाढ़ आने पर स्वयं काल का ग्रास बन जाता है। नीलधारा वाले बाबा की दृष्टि अलग है। वह जीवन के कष्ट दूर करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के माध्यम से कर्मशील रहने पर बल देते हैं।

जाति के आधार पर ही द्विज और अछूत घोषित कर दिए जाने वाले समाज पर भी तल्ख टिप्पणियां मौजूद हैं। लौकीराम; क्योंकि नीची जाति का है, तो उसके तांगे पर ब्राह्मण विद्यार्थी का बैठना विधर्मी कहलाए जाने से कम नहीं है। मुक्ति फिर भी चिलचिलाती धूप में पैदल चलने से बेहतर चुपके से लौकीराम के तांगे पर बैठ जाना उचित समझता है। एक दिन लौकीराम मुक्ति से कहता है—

''विद्यार्थी! हम मेहनत से रोटी कमाएं तो भी अधर्म है और ये तिलकधारी दूसरे की औरतों को बहकाकर चमगादड़ टापू ले जाएं, वो भी धर्म है।''

पाखंडी साधुओं द्वारा निःसंतान स्त्रियों को पूजा के बहाने टापू पर ले जाने के लिए लौकीराम के तांगे का प्रयोग करने के कारण भी मुक्ति बरसों बाद वापिस उसी नगर में लौटने पर विचार कर सकता है—

''...आज सोचता हूं तो समझ में आता है कि लौकीराम को टापू पर पहुंचाने का दायित्व शायद इसलिए दिया गया था, क्योंकि उसे समाज में बोलने का अधिकार नहीं था।

यदि बोल भी लेता तो उसे उसकी जाति के साथ जोड़कर सरलता से झुठलाया जा सकता था।''

जाति वर्चस्व के ही संदर्भ में और भी प्रसंग हैं उपन्यास में। हमारे देश के हर कोने में छोटी जाति के लोगों का, भगवान या देवता की मर्जी मानकर, न केवल शोषण करने, बल्कि बर्बरतापूर्ण अत्याचार करने की भी परम्परा रही है। हरखू हरकारे के लड़के की हत्या को देवता के प्रकोप की कहानी से जोड़ दिया जाना, बालकू अहीर को देवता के रथ और जनसमूह द्वारा रौंद दिया जाना, संस्कृत अध्यापक बन चुके मुक्ति को बालू के पक्ष में बयान देने के लिए षड्यंत्रपूर्वक निलंबित करा दिया जाना, ये सब घटनाएं इसी अमानवीयता की गवाह हैं। मुक्ति के निलंबन के सप्ताहभर बाद ही उसके बहाल हो जाने का किस्सा भी दलित और द्विज के बीच के अंतःसंघर्ष से जुड़ा हुआ है। यह किस्सा ख़ासा रोचक और प्रामाणिक बन पड़ा है। जो दलित अधिकारी निलंबन में भूमिका निभाते हैं, वही बहाली और स्थानांतरण कराने में मदद भी करते हैं, इस समाज की यह कैसी विडंबना है। जाहिर है कि निर्णायक भूमिका निभाने की क्षमता होते हुए भी यह काम उन्हें गुपचुप करना पड़ता है, क्योंकि जातिगत आंकड़ों के आधार पर वह अलग-थलग और कमजोर है। यह सब घटनाएं वर्षों बाद लेखक के हरिद्वार पहुंचने पर उसकी स्मृति में उभरती हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि संगठित हो चुके उस दलित विरोध पर लेखक की दृष्टि नहीं जाती, जिसे सवर्ण वर्चस्व को तोड़ने के औज़ार के रूप में काशीनाथ सिंह बजरंगी की सुनियोजित हत्या के रूप में 'रेहन पर रग्घू' में देख पाते हैं। 'नीलधारा' दलित उत्पीड़न की कोई पुरानी कहानी भी नहीं है और अब भी किसी-न-किसी रूप में ऐसी घटनाएं समाज में घट ही रही हैं। जो महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि उपन्यास में दलित विमर्श के दबाव कहीं नजर नहीं आते। जो कुछ घटित होता है, कहीं भी आरोपित नहीं जान पड़ता, अतिशयोक्तिपूर्ण कुछ नहीं है और जो है, कथा ढांचे में बखूबी गूंथा हुआ है। एक अन्य विशेषता नीलधारा के लेखक जितेन ठाकुर की यह है कि कथा-वाचक के ऊपर किसी तरह का नास्टेलजिया हावी नहीं हो पाता, जो कि अड़तीस वर्ष बाद वापिस उसी नगर में आने के बाद संभावित हो सकता था। यह वापसी स्थितियों के 'तब' और 'अब' में अंतर करने की दृष्टि विकसित करने का माध्यम जरूर बनी है। कथा-वाचक पुरानी चीजों और व्यक्तियों को खोजता जरूर है, पर यह खोज भी मूल कथा से संगति बैठने में भूमिका निभाती है।

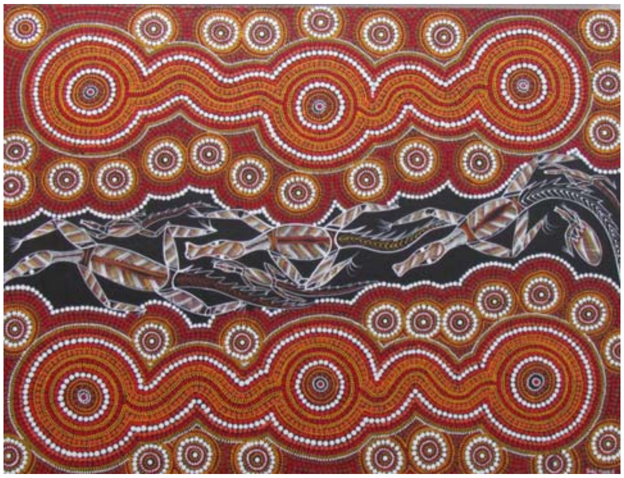

कुलपति बन चुके मुक्ति के सामने सेवानिवृत्ति के बाद किसी संस्थान के निदेशक बनने के विकल्प भी खुले हैं, पर अब वह रास्ता बदलना चाहते हैं। उस आत्मग्लानि से मुक्त होना चाहते हैं, जो अनाथ बालक से कुलपति बन जाने के जीवन के बीच गांठ की तरह कहीं अंदर फंसी हुई है। नीलधारा वाले बाबा अपनी जनसेवा के मिशन को भविष्य में दिशा दे सकने वाली संभावना के रूप में मुक्ति को देखते हैं, पर वह नौकरी के आकर्षण के आगे उस मिशन से मुंह चुराता है। इतने वर्षों के अनुभव और चिंतन ने मुक्ति को बाबा का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने की दृष्टि प्रदान की है, क्योंकि जीवन के वास्तविक अर्थ खोजना अभी बाकी है। सूर्यनाथ के उपन्यास 'चलती चाकी' का निशांत भी जीवन के अर्थ ढूंढ़ने के प्रयोजन से घर छोड़कर निकल पड़ता है साधु के भेष में और सत्कर्म को ही सामाजिक सुधार का औजार मानता है। यह बात अलग है कि षड्यंत्र का शिकार होकर वह वापिस पुरानी दुनिया की ओर वापिस लौट आता है। नीलधारा का मुक्ति जीवन के अनुभवों को समेटकर जीवन के उस मूल्य को समेटने, 'निज को सर्वस्व में आहूत करने' हेतु साधु वेश धारण करने का निर्णय लेता है। मुक्ति सहित नीलधारा वाले बाबा और आश्रम के भंडारी बाबा स्वयं मानव धर्म को बचाए रखने हेतु साधु वेश में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। यह पात्र समाज में हस्तक्षेप करने हेतु साधु का बाना पहनकर ही अपनी भूमिका का निर्वाह क्यों करना चाहते हैं। क्या कहीं स्वयं को सर्वस्व में तिरोहित कर देने के भाव की सामाजिक स्वीकृति के लिए यह बाना आवश्यक है या कहीं-न-कहीं उसमें जीवन के गूढ़ रहस्यों को जानने की आकांक्षा भी मौजूद है।

सामाजिक असमानता से व्यथित होने वाले मनुष्यों की एक श्रेणी है, इस असमानता को दूर करने का सपना बुनने वालों की दूसरी और सपने को हकीकत में बदलने हेतु वैकल्पिक प्रयोग करने वालों की तीसरी। निर्णायक चिंतन की प्रक्रिया में पुरानी यादों को टटोलता मुक्ति मुत्तुस्वामी तक जा पहुंचता है। समाज की असमानताओं से लड़ने के लिए अखबार को हथियार मानने वाला मुत्तुस्वामी इतने वर्षों बाद उस स्वप्न को जिंदा तो रखे हुए है, पर स्वप्न की तरह ही। इस मुलाकात के बाद मुक्ति धर्मशाला छोड़ देते हैं और उनके कदम बढ़ चलते हैं नीलधारा वाले बाबा के कुटिया-आश्रम की ओर, सपनों को हकीकत में बदलने के लिए। इस प्रकार यह उपन्यास एक आशावादी स्वर के साथ समाप्त होता है; बिना यह जानने की चेष्टा किए कि बाजारवादी ताकतों ने आश्रम का अस्तित्व जिंदा रहने दिया है या नहीं।

उपन्यास में संस्कृत भाषा और हिंदी साहित्य की स्थिति से लेकर सांप्रदायिक वैमनस्य के कारणों पर भी लेखक की दृष्टि गई है। यह भी विडंबना ही है कि संस्कृत जैसी वैज्ञानिक भाषा आम जन की भाषा न बन सकी और वर्ग श्रेष्ठता की भाषा बनकर अपनी नियति को प्राप्त हुई। आज संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं है। संस्कृत के पठन-पाठन की वर्तमान स्थिति पर उपन्यास में एक बहुत ही कटु, पर यथार्थ टिप्पणी है—

''यहां आकर पहली बार मुझे लगा कि शिक्षा में अब संस्कृत का कोई स्थान नहीं रहा। जिस प्रकार इतिहास के अवशेषों को

सुरक्षित रखने की अनेक चेष्टाएं की जाती हैं, ठीक उसी प्रकार पाठ्यक्रम में विषय बनाकर संस्कृत को सुरक्षित रखने की चेष्टा की जा रही है।''

इस बीच हिंदी साहित्य के संपर्क में आने पर लेखक को भान होता है—

''मेरी इस धारणा को अवश्य ही बल मिला कि हिंदी का सबसे बड़ा शत्रु हिंदी का ही अध्यापक है। साहित्य के नए तेवर को स्वीकारने की न तो उसमें इच्छा है, न सामर्थ्य।''

यद्यपि यह टिप्पणी नई नहीं है, फिर भी यह सवाल महत्त्वपूर्ण है कि दसवीं कक्षा तक भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल के महत्त्वपूर्ण रचनाकारों को पढ़ लेने के बावजूद आगे के जीवन में साहित्यिक अभिरुचि छात्रों में क्यों नहीं रह जाती है। जो छात्र उच्च शिक्षा के दौरान साहित्य पढ़ते भी हैं, वह पाठ्यक्रम छोड़कर भी समकालीन साहित्य पढ़ पाने के लिए प्रेरित हो पाते हैं या नहीं। अपवादों को छोड़कर क्या अध्यापन के तौर-तरीकों में ही खोट है।

हिंदू और मुस्लिम आबादी का आम आदमी अलग-अलग धार्मिक आस्थाओं के बावजूद अमन और भाईचारे की संस्कृति में विश्वास रखता है। फिर भी देश में हालात खराब होते रहे हैं। उपन्यास का मुख्य पात्र जब ज्वालापुर में लखनऊ के रिक्शा चालक से वहां के हालात जानना चाहता है तो जवाब मिलता है—

''हालात तो पूरे मुल्क में कहीं भी खराब नहीं हैं। वो तो वक्त आने पर खराब किए जाते हैं।''

उपन्यास के कथानक को भाषा के पठनीय ढांचे में जितेन ने बखूबी ढाला है। शुरू में मुक्ति के हरिद्वार आगमन से पैदा हुई जिज्ञासा पाठ के दौरान अंत तक बनी रहती है। सामाजिक स्थितियों और स्मृतियों का ताना-बाना 127 पन्नों के अपेक्षाकृत छोटे उपन्यास में कहनीपन की रोचकता और निरंतरता को अंत तक बनाए रखता है।

नीलधारा/जितेन ठाकुर/सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 200

भारत भारती, कुल्लू (हि.प्र.) मो. 09816136900

स्त्री-पुरुष संबंधों की पड़ताल

राजा खुगशाल

'अद्यतन सच' वीरेन्द्र सक्सेना का सद्य प्रकाशित उपन्यास है। यह उपन्यास स्त्री-पुरुष संबंधों की पड़ताल पर आधारित है। बदली हुई परिस्थितियों में स्त्री-पुरुष संबंधों में आए बदलाव को विश्लेषित करने में लेखक ने अपने अब तक के अनुभव, अध्ययन, शोध और चिंतन-मनन का समुचित उपयोग किया है। भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण की नई परिस्थितियों में स्त्री-पुरुष संबंधों का यह पुनरावलोकन स्त्री-विमर्श के आधार भी प्रस्तुत करता है। उपन्यास की संक्षिप्त भूमिका—'यह उपन्यास क्यों और कैसे?' में लेखक ने स्पष्ट किया है, ''मैंने जो यह उपन्यास 'अद्यतन सच' लिखा है, उसमें अपने नायक या केंद्रीय पात्र के माध्यम से सन् 1960 से लेकर सन् 2010 तक लगभग 50 वर्षों की समयावधि को आधर बनाया है, लेकिन कथ्य या लक्ष्य भारत के मध्यवर्गीय परिवारों में स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों में इक्कीसवीं शताब्दी के पिछले 10 वर्षों में आए बदलावों की स्थितियों- परिस्थितियों की पड़ताल करने का रहा है।'' स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों की पड़ताल पर आधारित यह वृहद उपन्यास 'पूर्व कथा', 'उत्तर कथा', 'उत्तरोत्तर कथा' एवं 'समाहार' चार भागों में विभाजित है।

विनय उर्फ डॉ. विनय श्रीवास्तव इस उपन्यास का केंद्रीय पात्र है, जो स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों की परिस्थितिजन्य जटिलताओं को समझने और समझाने का माध्यम बनता है। विनय विवाहित है और दो बच्चों का पिता है। वह स्त्री-पुरुष के विवाहेतर प्रेम-संबंधों की सामाजिकता का हिमायती है। उसके जीवन में पूर्णिमा, अनुभूति, शकुंतला, प्रवीणा, कुसुम, श्यामा, सरिता, वैदेही आदि कई विवाहित- अविवाहित स्त्रियां आती हैं। अपने अनुभव, अध्ययन-मनन के आधार पर विनय को लगता है, ''स्त्री-पुरुष संबंधों की अलग-अलग स्थितियों-परिस्थितियों के इतने अधिक आयाम हैं कि उन्हें एक साथ समझ पाना मुश्किल ही है और शायद भविष्य में तो और भी मुश्किल होता जाएगा।''

इस उपन्यास का कोई सुव्यवस्थित कथा विन्यास नहीं है। उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंधों का लक्ष्य प्रेम अथवा भिन्नता नहीं है, बल्कि प्रेम-संबंधों की वास्तविकता को जानना और समझना है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध ही नहीं, अन्य सामाजिक संबंध भी तात्कालिक सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से निर्धारित और नियंत्रित होते रहे हैं। कथा-नायक विनय मानता है कि, ''दांपत्य के दायरे में रहते हुए भी इतर संबंधों को सहज भिन्नता के

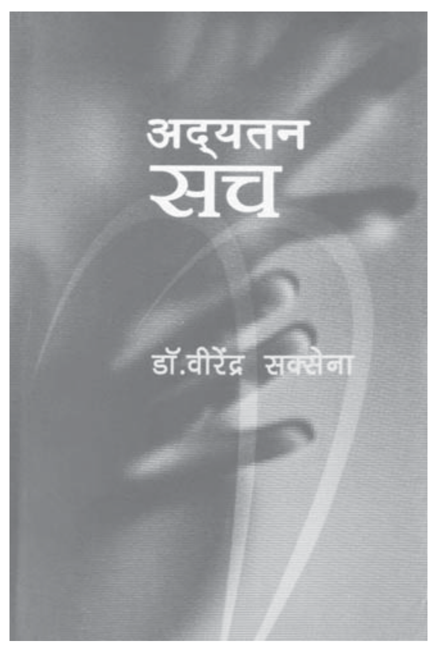

स्तर तक स्वीकार कर लेना चाहिए। इस तरह की भिन्नता में संबंधित स्त्री-पुरुष सहयोगी से आगे सहभागी भी बन सकते हैं।''

उपन्यास में गोवा, केरल, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, राजस्थान और मध्य प्रदेश के विभिन्न पर्यटन-स्थलों के यात्रा-वृतांत हैं। 1960 से 2010 तक के स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित उपन्यासों, कहानियों और आत्मकथाओं का विश्लेषण है। वर्ष 2000 से 2010 तक दिल्ली के साहित्य अकादेमी सभागार, त्रिवेणी सभागार, फिक्की सभागार, हिंदी भवन, गांधी शांति प्रतिष्ठान, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, इंडिया हैबिटाट सेंटर, आजाद भवन आदि सांस्कृतिक केंद्रों में आयोजित पुरस्कार वितरण समारोह, पुस्तक लोकार्पण समारोह, सम्मान समारोह, गोष्ठियों तथा अन्य साहित्यिक गतिविधियों के विवरण हैं। उपन्यास का नायक विनय अपने आपको एक वैज्ञानिक सोच वाला यथार्थवादी लेखक मानता है। लेखक होने के नाते वह इन कार्यक्रमों में अपनी किसी-न-किसी महिला मित्र के साथ उपस्थित रहता है। उपन्यास में देश-विदेश की ऐसी कई घटनाओं के वर्णन हैं, जिनका इस उपन्यास के मुख्य विषय से कोई संबंध नहीं है।

मध्यवर्गीय अध्यापक का बेटा विनय श्रीवास्तव एम.एस-सी. की पढ़ाई पूरी करके भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, बरेली में स्टैटिस्टीशियन के पद पर नियुक्त होता है। अपने पड़ोस में रहने वाली लड़की निर्मला से उसका मेल-जोल बढ़ता है। निर्मला तब बी.ए. की छात्रा थी। वह स्त्री-पुरुष के प्रेम को पवित्र और सेक्स की इच्छा को त्याज्य और घृणित मानती है। तदनंतर विनय एक अन्य लड़की पम्मी के संपर्क में आता है और उससे सेक्स संबंध स्थापित कर लेता है। वह एक अन्य विवाहित स्त्री कम्मो उर्फ कामिनी से भी शारीरिक संबंध स्थापित करता है। उन्हीं दिनों विनय के माता-पिता विनय का विवाह कमला से कर देते हैं। विवाह के बाद विनय नए ढंग से जीवन आरंभ करने का संकल्प लेता है और वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग में नई नौकरी आरंभ करता है। उन्हीं दिनों विवाह पूर्व प्रेम और काम संबंध की गुत्थी सुलझाने की कश-म-कश में विनय ने इन विषयों से संबंधित पुस्तकों का अध्ययन किया। उन्हें पढ़कर तथा अपने कुछ समवयस्क मित्रों से विचार-विमर्श के आधार पर वह यह सोचने लगा कि विवाह पूर्व प्रेम या काम संबंध में अपराध जैसा कुछ नहीं है, बल्कि उन्हें विशेष परिस्थिति में उचित ही माना जा सकता है।

विनय की पत्नी कमला एक सामान्य घरेलू स्त्री है। वह किसी दूसरी स्त्री की पीड़ा को नहीं समझ पाती और अनेक स्त्रियों की तरह ही ज्यादातर ईर्ष्या या द्वेष भाव से ग्रसित हो जाती है। वह विनय के विवाह पूर्व प्रेम एवं यौन संबंधों को अनुचित मानती है। एक पुत्र और एक पुत्री का पिता होने के बावजूद विनय के संबंध अपनी पत्नी से तनावपूर्ण रहते हैं। विनय ने हिंदी विषय से स्नातकोत्तर की परीक्षा पास की तथा बाद में गणितीय शब्दावली से संबंधित विषय में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। हिंदी में विज्ञान विषयों पर पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे। तद्पश्चात नागर विमानन विभाग, मुंबई और मौसम विज्ञान विभाग, नई दिल्ली में नौकरी करते हुए वह कुसुम, वैदेही और प्रवीणा आदि स्त्रियों के संपर्क में आया। कुसुम और प्रवीणा से विनय की अंतरंगता शारीरिक संबंधों तक पहुंची, लेकिन स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर वैदेही और प्रवीणा की धारणाएं एक जैसी नहीं थीं। निर्मला और कामिनी की सोच भी इस विषय में अलग-अलग थी।

अपने जीवन के पचासवें वर्ष में विनय केंद्रीय हिंदी पुस्तक ब्यूरो का निदेशक बन जाता है, साथ ही वह निश्चय कर लेता है कि भविष्य मे वह किसी अन्य स्त्री से शारीरिक संबंध स्थापित नहीं करेगा। वह अपनी अधीनस्थ एवं ब्यूरो की पत्रिका की संपादक अनुभूति अरोड़ा से कहता है, ''मुझे लगता है आज के पारिवारिक और वैयक्तिक विघटन के मूल में अनियंत्रित काम संबंध ही हैं। अनियंत्रित होने के कारण इस तरह के काम संबंध भावनात्मक या आर्थिक शोषण को बढ़ावा देते हैं।''

केंद्रीय हिंदी पुस्तक ब्यूरो के निदेशक पद से सेवानिवृत्त होने के पश्चात् भी अनुभूति और पूर्णिमा से विनय के मैत्रीपूर्ण संबंध बने रहते हैं। अनुभूति और पूर्णिमा दो ऐसी स्त्रियां हैं, जो स्त्री-पुरुष संबंधों के व्यावहारिक धरातल पर विनय से विचार-विमर्श ही नहीं करतीं, बल्कि पारिवारिक सुख-दुःख भी बांटती हैं। पूर्णिमा गोवा विश्वविद्यालय में कोंकणी भाषा की लेक्चरर है और हिंदी भाषा की अच्छी जानकार है। अनुभूति विनय के बाद केंद्रीय हिंदी पुस्तक ब्यूरो की निदेशक है। हिंदी और कोंकणी की कार्यशालाओं में विनय और पूर्णिमा साथ-साथ शिरकत करते हैं। ऐसे ही एक अवसर पर पूर्णिमा ने विनय को बताया कि वह अपनी आत्मकथा लिख रही है। विनय ने पूर्णिमा को सुझाव दिया कि वह आत्मकथा के बजाय आत्मकथात्मक उपन्यास लिखे। पूर्णिमा ने विनय के इस सुझाव को स्वीकार किया। साथ ही विनय यह निश्चय करता है कि वह भी अपनी आत्मकथा लिखेगा ओर आत्मकथा में कोई भी बात छिपाएगा नहीं। विनय ने पूर्णिमा की आत्मकथा का संपादन एवं पुनर्लेखन कर उसे 'संवाद और समवाद' शीर्षक से आत्मकथात्मक उपन्यास का रूप दे दिया। उक्त उपन्यास में 'नायिका और सहेली संवाद' तथा 'सखा-सखी संवाद' में स्त्री-पुरुष के प्रेम संबंधों को लेकर कुछ शंकाएं और कुछ समाधान भी प्रस्तुत किए गए हैं।

स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों को विस्तार से समझने-परखने की दिशा में विनय एक प्रश्नावली तैयार करता है और उन प्रश्नों के उत्तर उन्हीं स्त्रियों से पाना चाहता है, जिनसे उसकी किसी-न-किसी रूप में निकटता रही है। प्रश्न कुछ इस प्रकार हैं—क्या प्रेम वास्तव में होता है या केवल महसूस किया जाता है? क्या प्रेम कुछ समय के बाद कम होने लगता है और अंततः समाप्त हो जाता है? क्या एक ही समय में कई व्यक्तियों से प्रेम हो सकता है या किया जा सकता है? आदि। अनुभूति, शकुंतला, श्यामा, पूर्णिमा, कृष्णा अग्निहोत्री, रेणुका शरहट्टी और कल्याणी सेन ने इन प्रश्नों के उत्तर अपनी-अपनी तरह से दिए, लेकिन शकुंतला जैसी स्त्री प्रेम-व्रेम को बकवास मानती है। उसका कहना है, ''कोई भी पति अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता। वह तो उसे अपनी हवस मिटाने या बच्चे पैदा करने की मुफ्त में मिली मशीन समझता है।'' प्रेम के बारे में

उपन्यास की एक अन्य स्त्री श्यामा का कहना है, ''मैं अपने अनुभवों के आधार पर कह सकती हूं कि प्रेम तो अब होता ही नहीं है। अब किसी भी स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण होता है या स्वार्थ।''

मध्यवर्गीय समाज में कुप्रथाएं, जाति-धर्म की भिन्नता, बेमेल विवाह और आर्थिक असुरक्षा स्त्री-पुरुष संबंधों में तनाव के मुख्य कारण हैं। आलोच्य उपन्यास में पूर्णिमा और सरिता ऐसी ही स्त्रियां हैं। पूर्णिमा शिक्षित और स्वावलंबी स्त्री है। उसने अल्फ्रेड नामक युवक से प्रेम विवाह किया, किंतु विवाह के कुछ समय बाद ही उसका पति अपने धार्मिक विश्वासों को उस पर थोपने लगा। नतीजतन उनके वैवाहिक संबंधों में तनाव बढ़ने लगा। वे विवाह के बाद टूटते और बिखरते गए। अपने दो बच्चों के साथ पूर्णिमा ने अपने पति से भावनात्मक ही नहीं, शारीरिक दूरी भी बना ली। उनके वैवाहिक संबंध शून्य की स्थिति तक पहुंच गए। उनका विवाह मात्र संबंधेतर विवाह रह गया था। अपनी आत्मकथा में पूर्णिमा ने लिखा, ''ज्यादातर पत्नियां तो मेरी तरह ही हैं, क्योंकि उनके पति सेक्स और संतान के लिए विवाह करते हैं, लेकिन उसके बाद पत्नी की इच्छाओं या संग-साथ के बारे में जरा भी सोचते तक नहीं।'' जबकि सरिता बेमेल विवाह के कारण अपने दांपत्य जीवन से दुखी है। वह अपने पति से आयु में काफी छोटी है। पति के सर्वस्व को सहते-सहते प्रताड़ित होने के बाद अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वह किसी हितैषी का संग-साथ चाहती है, तो क्या यह अनैतिकता या चरित्रहीनता है? क्योंकि वह पूर्णिमा और अनुभूति की तरह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं है।

इस सदी में वैश्वीकरण तथा सूचनाक्रांति के बाद स्त्री-पुरुष संबंधों में बदलाव आया है। प्रेम के प्रति लड़कियों का दृष्टिकोण बदल गया है। लड़कियां अब अपने कैरियर के प्रति अधिक गंभीर हैं, प्रेम के प्रति नहीं। वे प्रेम को कैरियर का प्रतिद्वंद्वी मानती हैं। उनके लिए प्रेम का अर्थ है विवाह और विवाह का अर्थ है गुलामी की जिंदगी जीना। वे अब सहजीवन (लिव-इन-रिलेशनशिप) में यकीन करती हैं। आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्री अब सेक्स के बारे में अपने निर्णय स्वयं लेने लगी है।

पूर्णिमा और अनुभूति के साथ पारस्परिक सह-अनुभूति को महसूस करता हुआ विनय इस निष्कर्ष तक पहुंचता है कि किन्हीं स्त्री-पुरुष के बीच सेक्स-संबंध के बिना भी अंतरंग मैत्री जारी रह सकती है, इस प्रकार के मैत्रीपूर्ण संबंध से वे अपने वैवाहिक संबंधों में भी सुधार ला सकते हैं। वर्षों तक पूर्णिमा और अनुभूति के अलावा शकुंतला, सरिता, कुमुदिनी और श्यामा जैसी स्त्रियों से प्राप्त जानकारी के आधार पर विनय अपने चिंतन-मनन को आगे बढ़ाता है। स्त्री-पुरुष संबंधों की अद्यतन जानकारी के लिए लेखक विनय के माध्यम से हिंदी कथा-साहित्य की व्यापक पड़ताल करता है। विश्व का श्रेष्ठ साहित्य स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों पर आधरित है। स्त्री-पुरुष के प्रेम संबंधों पर लिखे गए साठोत्तरी उपन्यासों, कहानियों और आत्मकथाओं से लेकर वर्ष 2009-10 में प्रकाशित 'नया ज्ञानोदय' के पांच प्रेम महाविशेषांक तथा कथा मासिक 'हंस' में स्त्री-विमर्श के अंतर्गत स्त्रीवादी लेखिकाओं द्वारा पितृसत्ता या पुरुषवादी सोच के खिलाफ लिखे गए लेख भी इस पड़ताल में शामिल हैं।

लेखक ने अपने शोध-ग्रंथ 'काम संबंधों का यथार्थ और समकालीन हिंदी कहानी' (1975) का पुनरावलोकन करते हुए स्पष्ट किया है कि, ''महानगर दिल्ली और मुंबई तथा विदेशों में रहने वाले 37 कहानीकारों में से 12 कहानीकार विवाह-संस्था को जड़ मान चुके हैं। अतः उसकी आवश्यकता से ही इंकार करते हैं।'' इस निष्कर्ष की पुष्टि हेतु लेखक ने अपने शोध-ग्रंथ में कृष्ण बलदेव वैद, राजकमल चौधरी, निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा आदि लेखकों की कहानियों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इसके अलावा कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, ममता कालिया, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, मणिका मोहिनी आदि अनेक लेखिकाओं की कहानियों के उदाहरण दिए हैं। ऊषा प्रियंवदा और मणिका मोहिनी जैसी लेखिकाएं अपने वैवाहिक जीवन से संतुष्ट नहीं थीं। इसलिए उनकी कई कहानियों में वैवाहिक जीवन की कटुता उनके निजी जीवन के साथ चित्रित हुई है।

1960 के बाद प्रकाशित जिन उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से स्त्री-पुरुष संबंधों की विवेचना की गई है, उनका 'गुनाहों का देवता' (डॉ. धर्मवीर भारती), 'अर्द्धनारीश्वर' (विष्णु प्रभाकर), 'आत्मकथा' (कमलेश्वर), 'लखनऊ—मेरा लखनऊ', 'कुरु कुरु स्वाहा', 'कसप' (मनोहर श्याम जोशी), 'तुम्हारी रोशनी में', 'कोहरे में कैद रंग' (गोविंद मिश्र), 'सफेद पर्दे पर' (रमेशचंद्र शाह), 'प्रसिद्ध व्यक्तियों की प्रेम कथाएं' (रामकुमार भ्रमर), 'संबंध', 'कितना बड़ा झूठ' 'रुकोगी नहीं राधिका' (उषा प्रियंवदा), 'अमलताश' (शशिप्रभा शास्त्री), 'उसके हिस्से की धूप', 'कठ गुलाब', 'चितकोबरा' (मृदुला गर्ग), 'बेघर' (ममता कालिया), 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी), 'यामिनी कथा' (सूर्यबाला), 'अपने-अपने कोणार्क' (चंद्रकांता), 'दिलोदानिश', 'मित्रो मरजानी' (कृष्णा सोबती), 'तिरछी बौछारें' (मंजुल भगत), 'शाल्मली' (नासिरा शर्मा), 'आंखों की दहलीज', 'कोरजा', 'उसका घर' (मेहरुन्निसा परवेज), 'इदन्नमम', 'चाक', 'झूलानट', 'अल्मा कबूतरी' (मैत्रेयी पुष्पा), 'छिन्नमस्ता', 'अपने-अपने चेहरे' (प्रभा खेतान), 'एक जमीन अपनी' (चित्रा मुद्गल) मुख्य हैं।

'नया ज्ञानोदय' (अगस्त, 2009—नवंबर, 2009) में प्रकाशित बांग्ला लेखिका नवनीतादेव सेन का लेख 'मुहब्बत है क्या बला' का एक उद्धृत अंश द्रष्टव्य है, जिसमें लेखिका का कहना है, ''प्रेम करना, प्रेम करना नहीं है, बस मनोरंजन मात्र, फैशन मात्र है। उत्तेजना और आनंद में समय गुजारने का एक जरिया। हैविंग फन।'' इस बारे में लेखिका ने जिन छात्रों से बातचीत की थी, उनके विचार भी कुछ इसी तरह के थे, बल्कि वे प्रेम को भयानक और खतरनाक चीज मानते हैं। प्रेम के लिए वे अपने कैरियर को सैक्रीफाइस नहीं करना चाहते। 'प्रेम इज नाट प्रैक्टीकल—नाट ए प्रैक्टीकल प्रोपोजीशन एट ऑल।' उपन्यास में स्त्री-पुरुष प्रेम-संबंधों की पड़ताल बहुत व्यापक है। इसमें स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों पर लिखे गए कथा-साहित्य, लेख, सर्वेक्षण एवं प्रश्नावलियों के अलावा दुनिया के प्रसिद्ध व्यक्तियों, कवि-लेखकों और कलाकारों के प्रेम-प्रसंगों के संदर्भ भी हैं।

यह उपन्यास अलग-अलग परिस्थितियों में स्त्री-पुरुष संबंधों के भिन्न-भिन्न आयाम प्रस्तुत करता है। उपन्यास में जहां व्यावहारिक धरातल पर स्त्री-पुरुष के मैत्रीपूर्ण संबंध सहज रूप से उभरे हैं, वहां यह उपन्यास अधिक रोचक और प्रामाणिक लगता है। शोधपरक तथ्यों की अधिकता इस उपन्यास की पठनीयता को कम करती है।

वीरेन्द्र सक्सेना के साथ एक दिक्कत है कि अपने हर उपन्यास के मुख्य पात्र वे यह खुद हैं और हर उपन्यास में काम-संबंधों पर किए गए अपने शोधप्रबंध को आधार बनाते हैं। उनका यह उपन्यास भी इसका शिकार हुआ है। एक छोटी-सी बात को उपन्यासकार ने एक बड़े फलक पर उठाने की कोशिश की है, लेकिन नतीजा ढाक के वही तीन पात। जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र' कितना छोटा उपन्यास है, लेकिन उसका कथ्य कितना बड़ा। अपने पहले उपन्यास से लेकर इस उपन्यास तक वीरेन्द्र सक्सेना एक धुरी पर ही चक्कर काटते रहते हैं और बार-बार एक ही कथा को उबाऊ ढंग से प्रस्तुत करते हैं। यह उपन्यास है भी और नहीं भी। पुस्तक की बड़ी कीमत देखते हुए यह पाठकों के साथ छल है।

अद्यतन सच/डॉ. वीरेंद्र सक्सेना/भावना प्रकाशन, 109-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-110091/मूल्य : ₹ 600

एन-390, जलवायु विहार, सेक्टर-25, नोएडा-201301 (उ.प्र.), मो. 9910148737

चुप्पियों की आवाज

प्रेम भारद्वाज

रिल्के ने लिखा है, ''हमेशा अपने पर भरोसा रखो। दलीलों, बहसों से अधिक अपनी अनुभूतियों पर विश्वास करें।'' राजेंद्र दानी उन कथाकारों में हैं, जिनको शोर नहीं, चुप्पियां पसंद है। भारी-भरकम विषयों, वक्त की कड़ाही में खौलते मुद्दों की बजाय अपनी अनुभूतियों पर ज्यादा भरोसा है। इनकी कहानियां पंचम स्वर वाली नहीं, अलबत्ता लकड़ी के पाए को दीमक के खाने से जो मद्धिम आवाज निकलती है, वो है। इसे सुनने के लिए एक खास किस्म की खामोशी और धीरज तो चाहिए ही। इसके अलावा सूक्ष्म संवेदना की भी दरकार होती है। ज्ञानरंजन ने रेखांकित किया है, ''दानी की कहानियों में खुशी के कारण नहीं हैं, उदासी के हैं। समूचा निर्माण ही उन्हें असंगत लगता है। इसे वे अपनी कहानियों में मंद स्वरों में कहते हैं।''

दानी की कहानियों को पढ़ते हुए यह लग जाता है कि इन्हें लिखने वाला किस बेचैनी और गहरी पीड़ा में डूबा शख्स है। उनकी बेचैनी खुद के लिए नहीं है, न परिवार की खातिर है। वे उस आम आदमी के बारे में सोचते हुए बेचैन हैं, जो हाशिए पर है, जिसकी कोई नहीं सुनता?

दानी का जो 'एकत्र' नाम से संग्रह आया है, वह उनके पिछले चार संग्रहों की बेहतरीन कहानियों का समुच्चय है। पिछले तमाम संग्रहों की श्रेष्ठ कहानियों को यहां पढ़ा जा सकता है। यथार्थ के कई रंग होते हैं—सिर्फ सुर्ख रंग ही यथार्थ नहीं होता। वह कई बार रंगों से परे होता। दानी उदास रंगों के रचनाकार हैं—वे शोषण के विरोधी हैं—लेखन में और जीवन में भी। इसका प्रमाण है, उनकी कहानियां। इसे उनकी कहानी 'कछुए की तरह' बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करती है, ''बाजार ने संवेदना को मारा है—वह लगातार मरती जा रही है। लोग सबकुछ सहने को विवश हैं। चीखें भ्रम में तब्दील हो गईं। उसे कुछ समझ नहीं आ रहा हे और बाजार का दृश्य बदल गया है। सब तरफ शांति है और हर जगह कछुए कट रहे और बिक रहे हैं, यहां तक कि उनके झोले में भी कछुए का मांस भरा है। उस अजीब दुनिया में वे बिलकुल अकेली फंस गई है और चीख रही हैं, पर यहां से सिर्फ हवा निकल रही है।''

कहानी में इस बात की चिंता भी है कि यथास्थितिवाद के खिलाफ कहीं कुछ

प्रतिरोध की सुगबुगाहट क्यों नहीं है, ''मैं समझ नहीं पाती कि आखिर क्यों लोग कछुए की तरह सबकुछ सहते रहते हैं। अपने को बचाने के लिए कुछ करते क्यों नहीं।'' स्पष्ट है, यहां कछुए मनुष्य का प्रतीक हैं। आदमी कछुए की तरह है, जो सबकुछ सहता है, वह मर रहा है और बाजार में बिक रहा है। किसी जमाने में यही कछुआ

खरगोश से आगे निकल गया था, मगर आज के क्रूर समय में वह मरने-बिकने के लिए अभिशप्त हो गया है। दौड़ जीतने की बात तो छोड़ दीजिए।

देश और समाज में हो रहे बदलाव के प्रति दानी बहुत सजग और संवेदनशील हैं। वे उसे बहुत सूक्ष्मता से देखते और अनुभव करते हैं। कहानी 'महानगर' के बरक्स यह कहा जा सकता है कि ''कभी संवेदना हुआ करती थी। यहां नई कहानी दौर वाले 'खोई हुई दिशाएं' और 'फेंस इधर और उधर' से आगे की स्थितियां हैं। मामला पहले आदमी के अस्तित्व के सवाल का था, अब वह कीड़े-मकोड़े के हालात तक पहुंच गया है। भूमंडलीकरण ने विषमता की खाई को चौड़ा किया है, ''बड़ों की विरासत जब बढ़ती है तो अधिसंख्य छोटे वहां और छोटे हो जाते हैं और जो बचते हैं, वो कीड़े हैं, मकोड़े की जिंदगी जी रहे होते हैं।''

आम आदमी और हाशिए के लोगों के खिलाफ क्रूर होते माहौल या कहें सत्ता व्यवस्था का चित्र दानी की एक और बेहतरीन कहानी 'कीड़ा' में व्यक्त हुआ है। हम उस दौर में हैं, जब दुश्मन साफ-साफ दिखाई नहीं देता। वह अदृश्य है—जो दिखता है, उससे लड़ना तो आसान है, पर जो नहीं दिखता, उससे कैसे लड़ा जाएगा। संग्रह की प्रथम कहानी 'जड़ें' में पलायन के हालात हैं। गांव से निकलता आदमी परिवर्तनशील व्यक्ति बन बड़ा आदमी हो गया है। लोग जड़ों को भूल रहे हैं। उससे दूर जा रहे हैं। तब और अब में फांक आ गई है। पहले झगड़े-असहमति के बावजूद जड़ों से जुड़े रहते थे, लेकिन आज स्वार्थ ने जड़ों से लोगों को काट दिया है।

'एक अनहोनी प्रेम कथा' में प्रेम के बहाने भारतीय राजनीति के बदलते रंग और बदरंग होते जा रहे आदमी की व्यथा है। बदलाव की बयार यहां भी है। विचारधाराओं का पथ-वामपंथ भी। कथा नायक विपिन कुमार के शोध का विषय 'भारतीय राजनीति का पतन और स्वतंत्रता का मोहभंग' इस कहानी का प्रमाणतत्व है। अलबत्ता उससे भी आगे बढ़कर आदमी की पहचान खो जाने की चिंता है। 'वह सुबह कभी तो आएगी' का अथक इंतजार। आपातकाल का स्याहपना लिए एक कविता—

पिछली सीढ़ियों से/जब तब भेड़िए दरवाजे पर दस्तक देते हैं/मुझ जैसा हर आदमी/उन्हें खोजने के लिए अपने मासूम को भेज देता/और उन्हें लौटता न पाकर/घटना को केवल सभी का दुर्भाग्य बताता है।

उस भयावह समय से कथानायक निकलकर अपने मुद्दों और सिद्धांतों को छोड़कर अंधेरी खोह में चला जाना चाहता है और अंत में उसने अपने सिद्धांतों-विचारों और रिश्ते के अर्थों को बहुत नीचे गाड़ दिया। यह किसी एक व्यक्त की नहीं, हर आदमी की कहानी है।

इसी प्रकार 'एक झूठे की मौत' में झूठ जीवन में बड़ा तो दिखता है। जीवन के सच का सामना करने के लिए झूठ का सहारा लिया जाता है, मगर अंतरात्मा लंबे समय तक झूठ का बोझ बर्दाश्त नहीं कर पाती। 'संक्रमण' अपनी भाषा और प्रस्तुति के लिहाज से मर्मस्पर्शी कहानी है। इसकी भाषा काबिले तारीफ, एक कविता की लय लिए हुए है। एक बानगी देखिए, ''दादा कहते हैं संगीत कोठों में होता है, घरों में नहीं। पिता बचपन में समझ गए थे घर का मतलब। बांसुरी का विरोध पहली चिढ़ थी उनकी। दादा का लहजा उनकी कुलीनता के विरुद्ध होता था।'' कहानी में पीढ़ियों का टकराव नए ढंग से व्यक्त हुआ है। 'गनीमत नहीं' में युवा सपनों की उड़ान है। 'नेपथ्य का अंधेरा' में समय को साधने की जद्दोजहद है। इसमें व्यक्ति के बहाने समय का सच तल्खी के साथ सामने आता है, ''तुम्हारी सोच बहुत नकारात्मक है। तुम अपने डंक को तोड़ डालो, नहीं तो तुम्हारा जीवन मुश्किल हो जाएगा।''

'इस सदी के अंत में एक सपना' फैकलिन के जरिए देश, सत्ता, व्यवस्था और क्रूर हो रहे समय की भयावहता प्रकट होती है। उसे डरावने सपने आते हैं। लोग उसे मानसिक रूप से बीमार मान लेते हैं, जबकि फैकलिन नहीं, शायद वक्त ही बीमार हो गया है। सपने में आता सांप एक प्रतीक है बेरहम सत्ता-व्यवस्था का।

कुल मिलाकर राजेंद्र दानी की कहानी मन में गहरे प्रवेश कर हमें अपने आसपास के प्रति सजग ही नहीं करती, उसे परखने और समझने का एक नया नजरिया पेश करती है। उनसे गुजरना समय-समय से वाबस्ता होना भी है।

एकत्र/राजेंद्र दानी/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 300

बी-107, सेक्टर-63, नोएडा-201303, मो. 09350544994

कहानी के चौखटों में 'लोकरंगी प्रेमकथाएं'

प्रेमचंद सहजवाला

'लोकरंगी प्रेमकथाएं' कहानी-संग्रह है, जिसमें 'नल-दमयंती', 'लैला-मजनूं', 'हीर-रांझा' आदि सर्वप्रसिद्ध लोक-कथाओं को कहानी-विधा के चौखटे में बहुत खूबसूरती से बांधा गया है। संग्रह की भूमिका के तौर पर रवींद्र कालिया को कहानी-विधा की डिफेंस करनी पड़ रही है, यह कहते हुए कि, ''यह कहना गलत है कि हिंदी में पाठक नहीं हैं, वे जब कुछ पठनीय और जीवन से सरोकार रखने वाली रचनाएं पढ़ते हैं तो हुजूम में लौट-लौट आते हैं।'' प्रस्तुत संग्रह 'पठनीय' तो है, पर आज के जीवन से उसका कैसा समीकरण है, यह प्रश्न हर कहानी को नजदीक से परखकर ही उत्तरित हो सकता है।

संग्रह की सबसे लंबी कहानी 'नल-दमयंती' वास्तव में प्रेम-कहानी न होकर एक सत्यनिष्ठा-पतिनिष्ठा पत्नी दमयंती के विलाप की कहानी है, जिसे उसका राजा पति नल निर्जन वन में अकेली असहाय छोड़कर चल देता है। जब निषाध राज का पराक्रमी राजा नल 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि' को सार्थक करता या यह कहें कि 'कलियुग' के प्रभाव में आकर जुआ खेलते हुए अपने भाई पुष्कर के हाथों समस्त राज्य-पाट हार जाता है, तब तक भिक्षुक-सा बनकर महल से निकल पड़ता है। उस समय ठीक सीता की तर्ज में पत्नी, रानी दमयंती उसके हर सुख-दुःख की संगिनी बन साथ चल पड़ती है, परंतु निर्जन वन में भटकते-भटकते जब द्वापर के पांसों रूपी हंस नल के बदन की एकमात्र धोती उड़ाकर उसे पूर्णतः नग्न करके उड़ जाते हैं, तब राजा नल गहरी नींद में सोई रानी दमयंती की आधी धोती फाड़ उसे उस खूंखार से लगते वन में अकेली छोड़ चल पड़ता है। इसके बाद जब दमयंती जागती है तो अपने 'वेद वेदांग के ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ, महातेजस्वी' पति को अनुपस्थित पाकर वन-वन भटकती है और उसकी दारुण कथा बहुत मार्मिक बन पड़ी है, परंतु उस मार्मिकता से भी अधिक उस 'वेद वेदांग के ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ, महातेजस्वी' पति नल की निष्ठुरता पर दमयंती का दुःख भरा आश्चर्य इस कहानी का मूल कथ्य बन गया है।

आज समय बदल चुका है, जबकि अच्छे-भले हालात में कई पति अपनी पत्नियों को त्यागकर दूर देशों की चकाचौंध में जा बसते हैं, ऐसे में उन पत्नियों के लिए दमयंती कोई प्रेरणा शायद ना बन पाए, परंतु यदि इस लंबी, लेकिन वन-पीस-सी लगती कथा को उसके लिखे जाने के समय काल के अनुसार परखा जाए तो यह सहज ही कहा जा सकता है कि केवल रांगेय राघव (1923-42) की सिद्धहस्त कलम ही अपनी सिद्धहस्तता से दमयंती की दुर्दशा का वर्णन कर सकती है।

अन्य कहानियों में कुणाल सिंह की कहानी 'लैला-मजनू' व्यावहारिक दुनिया से बेखबर दो प्रेमियों की प्रेम-कथा है, जो प्रेम और युद्ध के बीच झूलती कथा है, जब मजनू का पिता यानी यमन का सरदार अपने बेटे के मोह में लैला के पिता बसरे के सरदार से अपनी जानी दुश्मनी तक भुला देना चाहता है और उसे लैला-मजनू के प्रेम को स्वीकार करने का संदेश भेजता है, तब बसरे का सरदार प्यार का दुश्मन बन जाता है और प्रेम की जीत के

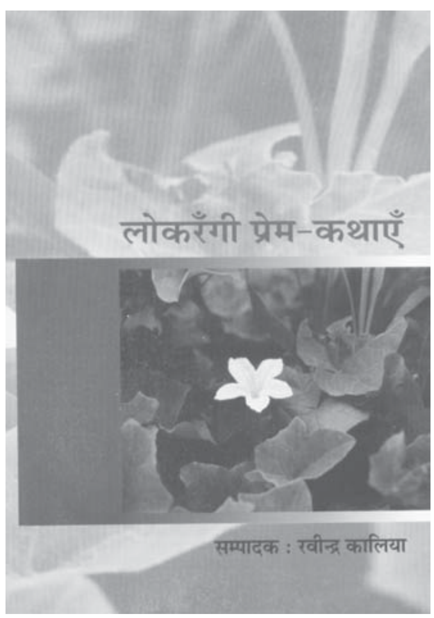

स्थान पर जंग छिड़ जाती है, जिसकी शिकार होती है खुद लैला। इस जंग में 'दोनों और फौजों की तलवारों के बीच में लैला का दिल जख्मी हो रहा था। कैस (मजनू) की फौज का भी हर सिपाही उसे अपना प्रतीत हो रहा था और अपने पिता की हार में उसे अपनी और अपने पिता की मौत दिखाई दे रही थी। (पृ. 97) जंग के आखिर में कैस और लैला दोनों के पिता मर जाते हैं। कैस के मरने की झूठी खबर पहले ही फैल चुकी थी। लैला व्यावहारिकता की विवशता में फंसकर इब्बन से शादी कर लेती है, जो कैस से ईर्ष्या करता है और लैला का हाथ कई बार मांग चुका है। इब्बन से शादी लैला 'प्रजा के जोर देने पर' मंजूर करती है। लैला अंत तक व्यावहारिक धरातल पर अपने प्रेम को आहत पाती है। इब्बन के मरने के बाद भी जब लैला को पता चलता है कि कैस तो जिंदा है और वह अपने महल से निकल कैस से मिलने जाती है, तब भी राह में रुककर अपनी प्रजा की भावना पर ही सोच उठती है, ''लोग कहेंगे उनकी मलिका बेवफा निकली। लोगों की गैरत जख्मी हो जाएगी। हर कोई कहेगा कि मलिका का इखलाक अच्छा नहीं है।'' (पृ. 98)।

इस कहानी में दरअसल कुणाल सिंह की सुंदरता व प्रेम की भाषा को व्यक्त करने में महारत प्रशंसनीय रूप से सामने आती है। जैसे 'सुबह की तरह सदा-सदा मुस्कराना, मैं आजाद किरणों का ताज तुम्हें पहनाऊंगा।'' (पृ. 93) अपने दिल का हर पहलू दिखाकर अपने चुनाव की इजाजत चाह रहा था। (पृ. 94-95)। कुणाल सिंह की ही कहानी 'शीरीं फरहाद' में जहां एक तरफ एक चित्रकार फरहाद के लिए शीरीं और उसकी बहन सुल्ताना महमन बानो के बीच की ईर्ष्या बहुत तीखे, बल्कि नग्न तरीके से उभरकर आई है, वहीं फरहाद की यह बात कि ''यह नहर मैं सुल्ताना के लिए नहीं खोद रहा, बल्कि लोगों के लिए खोद रहा हूं...पानी की कमी सुल्ताना को नहीं लोगों को है...' कहानी को यकायक वर्तमान के लिए एक महत्त्वपूर्ण मैसेज में परिणत कर

देता है। कुणाल सिंह यहां भी कलात्मक भाषा की महारत बड़ी रूमानियत के साथ पेश करते हैं, लेकिन इस संग्रह की कहानियां पढ़कर यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है कि जो कहानियां सदी-दर-सदी और पीढ़ी-दर-पीढ़ी अलग-अलग प्रामाणिक-अप्रामाणिक रूपों में अमर रहीं, उन्हें आमजन भले ही प्रेम की शाश्वतता और 'सच्चे प्रेम के लिए जान भी चली जाए तो कम है' के आदर्श के साथ किसी चस्के के रूप में ही सुनते-सुनाते रहे हों (शायद इसीलिए इस संग्रह का शीर्षक 'लोकरंगी' यानी लोगों द्वारा रंगी गई भी समीचीन ही है) परंतु साहित्यकार वर्ग उसे समय-समय पर अलग और सार्थक रूप देता रहा है। प्रसिद्ध सूफी सिंधी कवि शाह अब्दुल लतीफ (1689-1752) के काव्य की सात रानियां थीं : सोहनी, सस्सी, मूमल, मारुई, लीला, नूरी और धाज और इन सबकी कथाओं, प्रेम-कथाओं को शाह अब्दुल लतीफ ने आत्मा-परमात्मा से जोड़कर उन्हें आध्यात्मिक रूप दे दिया था। इधर आधुनिक काल में महाभारत की कॉपीराइट फ्री कथावस्तु को 'ययाति' (विष्णु सखाराम खांडेकर) व मृत्युंजय (शिवाजी सावंत) जैसे सशक्त मराठी उपन्यासों में आधुनिक दर्शन व संवेदना में बांधा गया। नरेंद्र कोहली की रामायण भी भला कौन भुला सकता है। ऐसे में यदि कुछ लेखक तमाम प्रचलित प्रेमकथाओं को आज के शीशे से दिखाते हुए कहानी विधा का रूप देते हैं तो यह अपने आपमें एक सुखद बात है। ईशान अग्निहोत्री की कहानी 'हीर-रांझा' एक चिरकालिक प्रेम-कथा से अधिक सम्मान व सम्मान-हत्या से जुड़ी कहानी लगती है। पहले हीर का अपने ही चरवाहे से प्यार करना घर के सम्मान के लिए प्रश्नचिह्न बन जाता है और उसकी धोखे से ही शादी करा दी जाती है, और फिर जब उचित न्याय पाकर हीर रांझे को वापस दी जानी होती है, तब डोली की जगह हीर की अर्थी उठती है और उसका चाचा कैदो उसे जहर खिलाकर सम्मान-हत्या कर देता है। ईशान की ही कहानी 'सस्सी-पुन्नू' में भी सम्मान या वर्ग-भेद एक और तरीके से आता है।

प्रेम का शाश्वत फार्मूला टाइप रूप बनाम नारी-पुरुष का स्वाभाविक संबंध, इस कसौटी पर सबसे खरी उतरती हैं संग्रह की पहली तीन कहानियां। ममता कालिया की दो टूक कहानी 'निर्मोही' एक महत्त्वपूर्ण संदेश देती है कि ''निर्मोही के साथ उमर काटने से अच्छा था घर छोड़ना। रानी ने बिलकुल ठीक किया।'' (पृ. 79)। राजा सूरसेन की डाबरनैनी रानी फूलमती महल से बाहर निकलती है और उद्यान में एक ''कांटा झाड़ी से टूटकर उंगली की पोर में धंस गया।'' (पृ. 76), पर जब बेचारी रानी को एक मालिन के छोरे की मदद से कांटा निकलवाना पड़ता है, तब यकायक महल के दरवाजे ही उसके लिए बंद कर दिए जाते हैं। मजबूरन रानी उस मालिन के छोकरे के साथ ही रहती है और अंत तक उसी के साथ रहना पसंद करती है। ममता ने कहानी को अपनी चिरपरिचित रोचक व पठनीय शैली में लिखा है, जिसमें भाषा की आंचलिकता का भी अच्छा दर्शन हो जाता है और बूढ़ी दादी और युवा पीढ़ी की प्रतीक उसकी पोतियों के बीच सोच का संघर्ष भी पूरी सफलता से उजागर होता है। इस कहानी को अगर उसकी थीम के आधार पर संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी कहा जाए तो गलत नहीं होगा। प्रेम कहानियों के पारंपरिक, बंधे-बंधाए ढांचे से ही सर्वथा मुक्त है विजयदान देथा की कहानी 'अनदेखा अंतस'। इस कहानी की नायिका जसमा, जो एक मिट्टी से खेलने वाली साधारण मजदूरिन है और मिट्टी सने गधे को हांकना ही उसकी रोजी-रोटी है, की एक राजा के आगे खुद्दारी बहुत नगण्य कहानियों में मिलती है। इस कहानी में एक औरत की पति के प्रति वफादारी, अपनी गरीब जिंदगी से इस कदर संतुष्टि कि महलों के सुखों की कल्पना भी उसे नहीं डिगा पाती, ऐसी दृढ़ता के अलावा सच्ची प्रीत के भी दो टूक दर्शन हैं, जैसे ''दुनिया की किसी औरत को मांगने वाली प्रीत सपने में भी नहीं सुहाती, प्रीत करे तो रिरियाने की दरकार ही कहां है...सत्ता, माया, तलवार की शक्ति को तो ये शक्ति ही नहीं मानते...'' (पृ. 68)। मजदूरिन पर मुग्ध राय खंगार को जसमा का एक-एक चुस्त जवाब मानो मिट्टी चबाने को विवश-सा कर देता है। राव खंगार भी उठ-उठकर पुनः-पुनः कोशिश करता है, पर मजदूरिन तो उसकी ओछी प्रीत के बदले मजदूरों के लिए मजदूरी को तिगुनी करवाने तक को तैयार नहीं है।

पंकज सुबीर की कहानी 'महुआ घटवारिन' संग्रह की सबसे कोमल कहानी है, जिसमें पुरुष की निष्ठुरता और नारी-पुरुष के बीच प्रेम के स्वाभाविक तंतु का अनोखा मिश्रण है। प्रोफेसर आनंद कांत शर्मा की शिष्या कुसुम प्रोफेसर को रेणु की 'तीसरी कसम' में गाड़ीवान हीरामन द्वारा वर्णित 'महुआ घटवारिन' की दर्द भरी कहानी के सीकुएल रूप में चुनौती देकर कहती है कि ''...छल देना तो पुरुष के स्वभाव में ही होता है। इस छल को वह सुंदर नाम देता है प्रेम...'' (पृ. 82) और प्रोफेसर अंतर्मुखी होकर 35 वर्ष पहले छोड़ी हुई अपनी प्रेमिका को याद करता है, पर उस प्रोफेसर और उसकी प्रेमिका शारदा ''दोनों ने स्वयं ही कभी अपने बीच के रिश्ते को कोई भी नाम देने का प्रयास नहीं किया (और) इसीलिए वो रिश्ता नर्मदा के जल की तरह प्रवाहमान था दोनों के बीच।'' (84)। पैंतीस वर्ष पहले अपने प्रेमी से बिछुड़ते समय शारदा उससे कहती है कि ''...इस तरह मत आना मेरे पास, कुछ बन जाओ तब आना। मैं तब तक तुम्हारी प्रतीक्षा कर लूंगी।'' (पृ. 85)। और कहानी के अंत में इतने लंबे अंतराल के बाद जब आनंद साहित्य में शिखर सम्मान प्राप्त कर चुका होता है, तब शारदा उसे आश्वस्त करके कहती है, ''अब तुम वह बन गए हो, जो मैं चाहती थी।'' (पृ. 90)। विवाहित आनंद जब विवाहित शारदा से बिछुड़ता है तब ''आनंद के कंधे पर धीरे से हाथ रख दिया शारदा ने और आनंद ने... अपने कंधे पर रखे शारदा के हाथ पर अपना हाथ रख दिया...'' इस क्षण में निहित प्रेम को विवाहरूपी किसी भी बंधन की रुकावट महसूस नहीं होती। यह शुद्ध प्रेम की अभिव्यक्ति है, जो कोरा प्रेम भी नहीं, जिंदगी में कुछ बन पाने पर यकायक शाश्वत हो चुका प्रेम है। यह प्रेम का सागर 35 वर्षों की व्यावहारिकता और दोनों के हो चुके विवाह के बंधनों के युगों के युग पार कर जाता है, यही इस कहानी की मार्मिकता है और यही इस कहानी को सर्वाधिक सॉबर कहानी बनाता है।

कुल मिलाकर प्रश्न यह उठता है कि जिन कहानियों की प्रामाणिकताओं तक पर अनेक बार प्रश्न उठे हैं, (जैसे कैस के बारे में ही यह कहा जा चुका है कि लैला-वैला कोई कभी थी ही नहीं, केवल कोई एक आवारा-सा लड़का था कैस ओर उसकी कल्पना में कोई राजकुमारी थी, बस उससे ही गढ़ी गई यह अमर कहानी लैला-मजनू) उन्हें फिर-फिर लिखे जाने का मकसद क्या हो सकता है। मकसद तो इस संग्रह से ही स्पष्ट होता है और ऐसा लगता है कि ऐसी तमाम कहानियों पर आज के लेखक को फिर-फिर कलम उठानी चाहिए और नए साहित्यिक व सामाजिक मूल्यों का निर्माण-पुनर्निर्माण होना चाहिए।

लोकरंगी प्रेमकथाएं/संपादक : रवींद्र कालिया/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 270

सी-106, डबल स्टोरी, रमेश नगर, नई दिल्ली-110015, मो. 09899706702

अमरीका का वह निराला कवि : वाल्ट ह्विटमन

भारत यायावर

चंद्रबली सिंह अंग्रेजी के परम विद्वान होकर भी हिंदी के साधक थे। वे रामविलास शर्मा के सान्निध्य में काफी लंबे समय तक आगरा के बलवंत राजपूत स्नातकोत्तर महाविद्यालय में प्राध्यापन करते रहे। वे अपनी साइकिल की डंडी पर रामविलासजी को बैठाकर, गपशप करते हुए, महाविद्यालय आते-जाते थे। रामविलास शर्मा ने अपनी रामचंद्र शुक्ल पर लिखी आलोचना पुस्तक को चंद्रबली सिंह को अभूतपूर्व आलोचक कहकर समर्पित किया है। वे लंबे-छरहरे थे। पान अधिक खाने से उनके दांत काले पड़ गए थे, किंतु उनकी वाणी में मिठास थी। जो भी उनके पास आता था, उनका हो जाता था। वे सरल और सहृदय थे। उन्हें लिखने से अधिक बतरस में आनंद आता था। मैं भी बहुत कम उम्र से ही उनसे मिलता रहा था और उनका मुरीद था। आज जब वे नहीं हैं, उन्हें याद करके दिल में एक टीस-सी उठती है। उन्होंने जो आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं, वे उनकी दो पुस्तकों में संकलित हैं—'लोकदृष्टि और हिंदी साहित्य' तथा 'आलोचना का जनपद'। चूंकि वे अंग्रेजी कविता के मर्मज्ञ थे, छठे दशक में नाजिम हिकमत की कविताओं का अनुवाद किया था, जो पुस्तकाकार 'हाथ' शीर्षक से छपा था। साहित्य अकादेमी से उनकी पाब्लो नेरूदा की कविताओं का एक संचयन प्रकाशित हुआ था। अपनी मृत्यु के पूर्व उन्होंने एमिली डिकिन्सन, वाल्ट ह्विटमन एवं बर्तोल्ट ब्रेख्त की कविताओं के अनुवाद किए थे, जिनमें दो पुस्तकें महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा के सहयोग से वाणी प्रकाशन के द्वारा प्रकाशित की गई हैं। खेद का विषय यह है कि वे इन किताबों को प्रकाशित रूप में नहीं देख पाए।

वाल्ट ह्विटमन अमरीका के राष्ट्रीय कवि थे। वे कविता में मुक्तछंद के जन्मदाता हैं। 'घास की पत्तियां' उनकी अमर कृति है, जिसकी लोकप्रियता देश-देशांतर में है। चंद्रबली सिंह युवावस्था से ही उनकी कविताओं के मर्मज्ञ अध्येता रहे हैं। उन्होंने ह्विटमन की कविताओं का तन्मयता से हिंदी में रूपांतर किया है। यह पुस्तक चंद्रबली सिंह की उम्र भर की साधना का प्रतिफल है।

वाल्ट ह्विटमन अमरीका के पहले कवि थे, जिनकी ओर हिंदी के साहित्यकारों का ध्यान गया था। मई, 1913 ई. की 'सरस्वती' में पहली बार उन पर पूर्ण सिंह का निबंध 'अमरीका का मस्तयोगी वाल्ट ह्विटमन' छपा। इस निबंध में पूर्ण सिंह ने ह्विटमन के व्यक्तित्व का जीवंत शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है। उसकी कुछ पंक्तियां देखें, ''अमरीका के वन में नहीं,

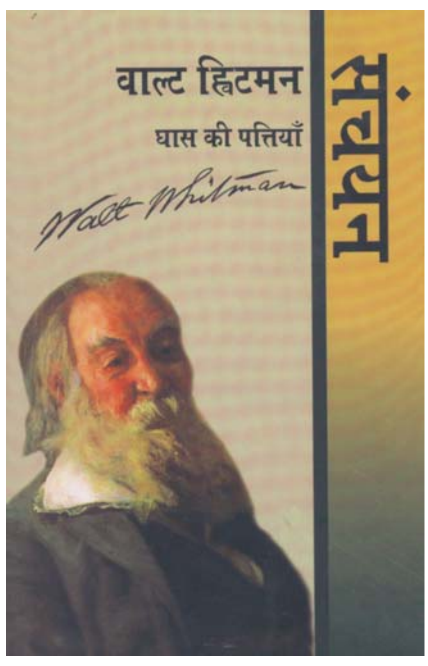

जीवन के अरण्य में यह कौन जा रहा है? यह प्रकृति का बंभोला है कौन? यह वन का शहदौला है कौन? यह इतना शरीफ, अमीर होकर ऐसा रिंद फकीर है कौन? अमरीका के वही मूर्ख, तत्वहीन, मशीनरूपी नरक में यह जीता-जागता ब्रह्मज्ञानी रूपी स्वर्ग कौन है? इसकी उपस्थिति मात्र से मनुष्य की आभ्यंतरिक अवस्था बदल जाती है। अमरीका की बहिर्मुख सभ्यता को लात मारकर, बिरादरी और बादशाह से बागी होकर, कालीनों को जलाकर, महलों में आग लगाकर यह कौन जाड़ा मना रहा है? प्रभात की फेरी वाला, जंगल का जोगी, अमरीका का स्वतंत्र और मस्त फकीर वाल्ट ह्विटमन अपनी काव्य-रचना करता हुआ जा रहा है। वह कोमल और ऊंचे, लंबे और गहरे स्वरों में एक संदेशा देता जा रहा है। सभ्यता के नगरों से यह जोगी जितना दूर होता जाता है, उसका स्वर उतना ही गंभीर होता जाता है।'' पूर्ण सिंह ने उनकी कुछ कविताओं के भी अनुवाद किए हैं—

''ओह! कैसे रचूं आनंदभरी, रसभरी, दिलभरी कविता
राग भरी, पुंसत्व भरी, स्त्रीत्व भरी, बालकत्व भरी,
संसार भरी, अन्न भरी, फल भरी, पुष्प भरी!''

वाल्ट ह्विटमन की उपर्युक्त पंक्तियों में उनकी कविता का मर्म छुपा है, साथ ही अपनी कविता को जीवन से भरपूर बनाने की तड़प भी है।

जून, 1920 ई. में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने वाल्ट ह्विटमन पर 'सरस्वती' में एक जोरदार लेख लिखा। वे लिखते हैं, ''वह प्रजापक्ष का कवि कहा जाता है, क्योंकि उसने जन-साधारण के हृदयगत भावों को अच्छी तरह व्यक्त किया

है। उसने न तो किसी का अनुकरण किया है और न स्वयं कोई नियम बनाने की परवाह की है। उसके विचार विचित्र हैं और उसकी शैली विलक्षण है। चाहे कोई उन विचारों से सहमत हो, चाहे न हो, पर इसमें संदेह नहीं कि वह वाल्ट ह्विटमन की कृति का आदर अवश्य करेगा। वाल्ट ह्विटमन की उच्छृंखलता का प्रमाण हमें उसकी कृति में खूब मिलता है। उसका कहना है कि कविता-कामिनी से शब्दों का भार वहन कराकर उसे हंसगामिनी मत बनाओ। उसे अपनी स्वाभाविक गति से स्वच्छंदतापूर्वक चलने दो, साहित्याकाश में उसे निर्बंध पक्षी की तरह उड़ने दो, भाव-सिंधु में उसे मछली की तरह तैरने दो। उपमा आदि अलंकारों की कोई जरूरत नहीं। उसका प्राकृतिक सौंदर्य इन अलंकारों से नष्ट हो जाता है। कविता में न तो तर्क से काम लो और न विवाद से। उसमें तुम रहो, तुम्हारा प्रतिबिंब न रहे। उसमें प्रकृति रहे, प्रकृति की छाया न रहे।''

अमरीका के इस महान कवि के महत्त्व को हिंदी के प्रारंभिक दो साहित्य-निर्माताओं ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही स्वीकार कर लिया था और चंद्रबली सिंह ने उनकी महत्ता को समग्रता में पहली बार उजागर किया। उन्होंने वाल्ट ह्विटमन की संक्षिप्त जीवनी के साथ-साथ उनकी कविताओं पर विस्तार से विचार किया है। वे कहते हैं—वाल्ट ह्विटमन ने न सिर्फ अमरीका में, बल्कि सारी दुनिया में जनतंत्र की स्थापना का जो स्वप्न देखा था, उसमें स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व की परिकल्पना फ्रांसीसी क्रांति के आदर्शों से कहीं आगे जाती थी। अपने जमाने में अनेक यूरोपीय क्रांतियों की विफलता के बावजूद उसने जनतंत्र की अंतिम विजय में अपनी आस्था नहीं छोड़ी। उसने अमरीका को एक भविष्यवाणी के रूप में और उसके विकास को भविष्योद्घाटन के रूप में देखा। इस आस्था के बावजूद वाल्ट ह्विटमन अंधा स्वप्नद्रष्टा नहीं था। एक यथार्थवादी के रूप में उसने अपने जमाने में हो रही उन घटनाओं को भी देखा, जो पूंजीवादी विकास में अनिवार्यतः अंतर्विरोध के रूप में पैदा होती हैं। अपनी पुस्तक 'जनतांत्रिक परिदृश्य' में उसने लिखा—हृदय का जैसा खोखलापन आज है, वैसा अतीत में कभी नहीं था और वह संयुक्त राष्ट्र अमरीका में है। लगता है सच्ची आस्था ने हमारा साथ छोड़ दिया है। इस राज्य के गठन में अंतर्निहित सिद्धांतों पर ईमानदारी के साथ विश्वास नहीं किया जाता। यह दृश्य डरावना है। हम पूरी तरह पाखंड में सांस ले रहे हैं। मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि अब तक नई दुनिया का जनतंत्र अपने सामाजिक पक्षों और वास्तविक भव्य धार्मिक, नैतिक, साहित्यिक और सौंदर्यशास्त्रीय परिणामों को देखते हुए लगभग पूरी तरह असफल रहा है।

वाल्ट ह्विटमन धरती से जुड़ा कवि था। वह स्वच्छ प्रकृति में विचरण करता था और खरी-खरी बातें कहता था। उसकी बातों में सच्चाई की लौ जलती रहती थी, जिसके प्रकाश में जीवन का असली चेहरा दिखाई देता था। वह स्वाधीनता का प्रबल पक्षपाती था। उसकी यह अमरवाणी विश्व की मुक्तिकामी जनता को प्रेरणा देती थी। वह कहता था—जब स्वतंत्रता चली जाती है, तब वह जाने वाली चीजों में पहली, दूसरी या तीसरी नहीं होती है—वह शेष सभी चीजों के चले जाने की प्रतीक्षा करती है और सबके अंत में जाती है।

वाल्ट ह्विटमन जीवन की तुच्छ चीजों से अपनी कविता का विषय चुना करता था। इसीलिए उसने अपने कविता-संग्रह का नाम ही रखा—'घास की पत्तियां'। नंगे बदन धूप में घास पर लेटना उसे पसंद था। वह धरती की धड़कनों को सुनता था, प्रकृति के नीरव संगीत पर मदमस्त गाता था। 'पृथ्वी को सलाम!' कविता की कुछ पंक्तियां—

मेरा हाथ थामो, ओ वाल्ट ह्विटमन!

कैसे ये थिरकते चमत्कार! कैसे ये दृश्य और ध्वनियां!

कैसी अनंतर संयुक्त ये कड़ियां! प्रत्येक अगली से जुड़ी हुई,

प्रत्येक सबकी समरूप, प्रत्येक सबके साथ पृथ्वी की भागी है।

क्या है जो तुम्हारे भीतर विस्तार पाता है, वाल्ट ह्विटमन?

कैसी तरंगें और मृदाएं निसृत होती हैं?

कैसे प्रदेश? कैसे ये व्यक्ति और नगर हैं यहां?

कैसे ये शिशु हैं, कुछ क्रीड़ा और कुछ निद्रा-रत?

कौन ये किशोरियां हैं? कौन हैं ये परिणीताएं?

कौन हैं ये वृद्धों की टोलियां जो एक-दूसरे की

गर्दनों पर बांहें डाले चले जा रहे हैं?

कौन ये नदियां हैं? कौन वन और फल हैं ये?

क्या नाम हैं उन पर्वतों के जो कोहरे पर इतने ऊपर उठे हैं?

कैसे हैं वे असंख्य आवास निवासियों से पूर्ण?

वाल्ट ह्विटमन की कविता के कई ओर-छोर हैं। उसमें अनगढ़पन होते हुए भी तरलता और प्रवाह है। पुरोवाक् में प्रसिद्ध कवि दिनेश कुमार शुक्ल ने सही लिखा है कि वे अमरीकी कविता के आदि-पुरुष हैं। यूरोपीय परंपरा से अलग अमरीका की अपनी खांटी पहचान बनाने वालों में वे अग्रगण्य हैं। उनकी कविताओं, लेखों और उनकी जीवन-शैली में अमरीकी भाव-बोध और अस्मिता के निर्माण ने केंद्रीय भूमिका निभाई है। वे अमरीका के टाल्सटॉय हैं। वाल्ट ह्विटमन व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता के जितने समर्थक थे, वे समष्टि के, बहुलता के और समाज की अंतर्निहित एकता और जनवाद के भी उतने ही मुखर प्रवक्ता थे। उनका अमरीका मेहनतकश लोगों का समूहगान है—जो लोहारों, बढ़इयों, राज-मिस्त्रियों, गृहणियों, मजदूरों, किसानों, बच्चों आदि के समवेत को ध्वनित करता है। उतनी प्रबल रचनात्मक ऊर्जा वाले इस कवि के सामने काव्य-रचना के पारंपरिक छंदबंध कैसे टिक सकते थे। उन्होंने मुक्त छंद को स्थापित किया और कविता के लिए अपार संभावनाओं के द्वार खोल दिए, ठीक हिंदी कवि निराला की तरह। वाल्ट ह्विटमन सही मायनों में निराला की तरह ही थे। उनकी 'घास की पत्तियां' विश्व कविता की अमूल्य धरोहर है, जिसे हिंदी में अवतरित करने के लिए चंद्रबली सिंह सदैव याद किए जाते रहेंगे।

संचयन—घास की पत्तियां/वाल्ट ह्विटमैन/अनुवाद : चंद्रबली सिंह/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 मूल्य : ₹ 350

यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट, हजारीबाग-825301 (झारखंड),
e-mail : bharatyayawar@yahoo.com
Mobile : 9835312665

गूलर का फूल न हो जाना, प्रेम!

ओम भारती

व वरिष्ठ कवि चंद्रकांत देवताले की कुछ पंक्तियां हैं—

"जब मैं प्रेम करता हूं
अपने से...
जब मैं प्रेम करता हूं तुमसे-सबसे...
जब हम प्रेम करते हैं पृथ्वी से...
फिर भी पूरी नहीं होती प्रेम की परिक्रमा
क्षितिजों के पार कुछ ढूंढ़ती ही रहती हैं
कवियों की आंखें।"

आज जब हमारी भाषाओं की समकालीन कविता कई पीढ़ियों के कवि संग-साथ रचना-रत हैं, तो एक असमाप्त प्रेम-परिक्रमा उसमें बराबर पढ़ी जा सकती है। इस परिक्रमा के एक नए ताजे अंश की तरह स्वागतेय है युवा कवि जितेंद्र श्रीवास्तव का कविता-संकलन—'बिलकुल तुम्हारी तरह'। अपने सौ सफों में साठ से ज्यादा प्रेम-कविताएं समेटे इस संग्रह के ब्लर्ब में ही स्पष्ट किया गया है कि "जितेंद्र श्रीवास्तव की प्रेम-कविताएं दांपत्य से जलवायु और धूप ग्रहण करती हैं। यह लालसा से नहीं, साहचर्य से जनमा प्रेम है। इसमें साधारण का औदात्य है। छोटी-छोटी स्मृतियों के जरिए बुनी गई इन कविताओं की गहराई पाठकों से अलक्षित नहीं रह पाएगी। ये जीवन के प्रति गहरी आस्था से उपजी कविताएं हैं। इन कविताओं में अभिव्यक्त प्रेम दुनिया से कटकर सार्थकता नहीं पाना चाहता। वह इसी जीवन का, उसके सुख-दुःख का हिस्सा है।" यकीनन इन कविताओं के पीछे से झांकता एक संवेदनमय युग मन है, अपने गृहस्थ-अनुराग को लिखते हुए पाठक से आत्मीय हो जाने को उत्सुक है। जितेंद्र की इन कविताओं में तन से ज्यादा और ज्यादा बार मन आता है—

'हिल रहा वहां मन-पात ऐसे'/'तुम्हारी पुतलियां मेरा मन'/'मन खिला वसंत का'/'तुम हो तो मन है/पलकों पर आकाश उठाने का'/'महज प्रेम है/महज राह है उन्नत मन की'

कवि का यह मन भटकता और चीन्हता है मृगनयन मन होकर। कहीं वह मन नयन है तो कहीं वही मन रसना है। देह-धुन और दैहिक आवेग के परे उसके प्रेम का यह रूप मन की लालसा में है, जहां 'मन पीऊ पीऊ कुहक रहा है'। इस किताब की पहली कविता है—'कि तुम जाती हो' और अंतिम है 'दृष्टकोण'। दृष्टिकोण का अंतिमांश देखिए, 'वह जानता है हिसाब-किताब/यह भी कि/मन के इस गणित में उसे हासिल हो शायद शून्य ही/फिर भी वह नहीं छोड़ना चाहता अपना सपना/नहीं बदलना चाहता दृष्टिकोण'। (पृष्ठ 100)

जाहिर है कि कवि का दृष्टिकोण उजला है, साफ है, जिसमें जीवन चार आंखों से देखा

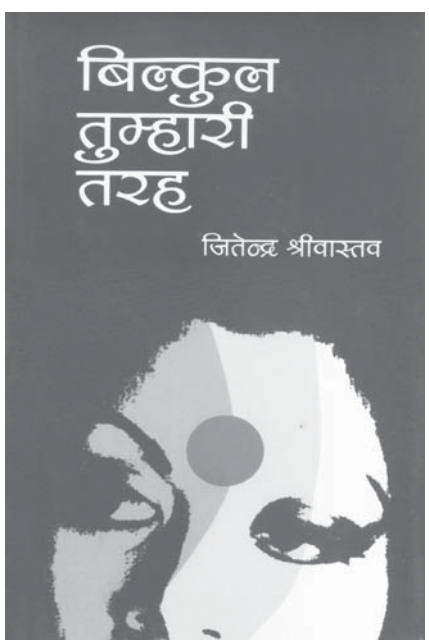

गया एक सपना है। वह कुछ दूर अपनी तरल भावनाओं के साथ चलता है, परंतु उनमें बह नहीं जाता। यह जितेंद्र का चौथा कविता-संग्रह है, कुछ बहुत रम्य रचनाएं लिए हुए है—'पानी', 'बिलकुल तुम्हारी तरह', 'सपने में एक लड़की—सोन मछरी', 'जिस शहर का सपना है उसकी आंखों में', 'जा विदा प्रिय धार', 'मेरी प्रतीक्षा से लंबी एक प्रतीक्षा', 'जैसे ताक पर से कोई दीया' वगैरह। इन्हें पढ़ना एक सुख है, आज के गद्य-दमिता कविता-अध्यायों के बीच सारी कविताई का सहज परिच्छेद है। 'उन्होंने घर बनाए' कविता में अज्ञेय ने बताया और पूछा था, "एक बिंदु तक कहानी हम बनाते हैं/जिसके आगे कहानी हमें बनाती है/उस बिंदु की सही पहचान/क्या हमें आती है?" जितेंद्र की सफलता इसमें है कि वे उस बिंदु को चीन्हते हैं, लौट-लौटकर वहां जाते भी हैं, जहां उनकी रची कविता उन्हें रचती होती है। वे प्रेम में होकर किसी इतरलोक में खुद को खोकर नहीं जीते, इसी जगत्-जीवन में, अवधि में होते हैं। इसलिए वे अपने इर्द-गिर्द चल रहे बाजार और पूंजी के उपद्रव को भी निरख रहे हैं—

"यह समय शापित है/इन दिनों/बाजार के इतने चेहरे दिखते हैं एक साथ।"

वे इस बाजार के तिलिस्म की गिरफ्त में नहीं हैं, भाषा और शब्द की संस्कृति पर किए जा रहे आक्रमण के विरुद्ध सावधान हैं, तभी तो अपने भरोसे को भी बनाए हुए हैं; मानो वे हमें भी आश्वस्त ही तो कर रहे होते हैं कि अब भी—

"कुछ शब्द लिए लिए से हैं/थोड़ी-सी नमी है/अब भी पृष्ठ पर/थोड़ा-सा विश्वास है शब्दों में" (पृष्ठ 44)

शब्द एवं भाषिक-कर्म में यही विश्वास

पकते युवा की शक्ति भी बना है। प्रेम और प्रेम की स्मृतियां उसे जीवन का उपजीव्य बनाती हैं, प्राण-शक्ति पूर देती हैं उसमें—

'...एक अपरिचित शहर में/असमय मृत्यु से बचाती रही/स्मृतियों में बसी एक स्त्री''।

इसीलिए वे अपनी कविता में आंचलिकता का ताप लिए शब्द और ताजे-टटके देशज बिंब ला सकते हैं—

''आई हो तुम जीवन में ऐसे/आती है बरखा/जेठ-वैशाख की तेज धूप में जैसे''

या फिर—

''कांप रहा है दिन/और धूप भी पियराई है/न जाने कौन ऋतु आई है''।

औपनिवेशिक साम्राज्यवादी पूंजी के उपभोक्तावाद ने भोग-विलासी अपसंस्कृति का जो माया-द्वीप रचा है, उसमें कहीं मनुष्य की मूल प्रकृति, उसके स्वाभाविक संवेदन नष्ट न हो जाएं, यह चिंता जितेंद्र श्रीवास्तव को है। ये कविताएं मानवीय प्रेम को अपने निसर्ग में जिंदा रखने की प्रतिज्ञा हैं। कहीं ऐसा न हो कि शोषक पूंजी की दबंगई प्रेम को भी जीवन से बहिष्कृत, बल्कि असंभव न कर दे, और—

''धीरे-धीरे लोग भूलने लगें/प्रेम जैसी कोई भी बात/फिर किसी समय दुनिया में/गूलर का फूल हो जाए प्रेम।''

बिलकुल तुम्हारी तरह/जितेन्द्र श्रीवास्तव/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ₹ 100

221/9-बी, साकेतनगर, भोपाल (म.प्र.)-462024, मो. 09425678579

समय का सच एवं उसकी चुनौतियां

नरेंद्र पुंडरीक

नासिर अहमद सिकंदर का 'भूलवश और जानबूझकर' तीसरा कविता संकलन है। नासिर समकालीन हिंदी कविता के ऐसे कवि हैं, जिनकी कविताओं ने 'कहन' के जरिए अपनी पहचान बनाए रखी है। इस 'कहन' से जीवन का सहज कथ्य कविता में एकदम से उद्घाटित हो उठता है, उस तरह से जिस तरह से पाठक ने अपेक्षा नहीं की थी। नासिर की कविताएं अपेक्षित को अनपेक्षित ढंग से लाती हैं। यह उनकी कविता में एक बार नहीं, अनेक बार होता है, यहां तक कि यही उनकी कविता में पहचान बन गया है।

नासिर की कविताओं में समय का सच, उसकी विभीषिकाएं, चुनौतियां, सबके रेशे बुने हुए दिखाई देते हैं। नासिर की चिंता में वे संवेदनाएं हैं, जो लगातार छीजती हुई नष्ट हो रही हैं। बाजार, भूमंडलीकरण का छल लगातार हमसे सबकुछ छीनता चला जा रहा है। इन कविताओं के सूक्ष्म संवेग इतने मारक हैं कि वह पाठक को झनझना देते हैं। उसे सोचने के लिए मजबूर-सा कर देते हैं। कविता का यही काम भी है, जो एक सच्चा रचनाकार अपनी कविताओं के माध्यम से करना चाहता है। संकलन की पहली कविता की इन पंक्तियों पर गौर करें—''शानदार इनस्विंगर का/हर कोण से रिप्ले/दिखा कम/कोकाकोला ज्यादा''। आधुनिक पूंजी का लक्ष्य खेल नहीं, हमारे देश-त्योहार नहीं, हमारे शादी-विवाह के उल्लास नहीं। उसका लक्ष्य हमारी वे खुशियां नहीं, जो हम चीजों के बिना पाते रहे हैं, जो स्थायी होकर हमारे जीवन में टिक जाया करती थीं, बल्कि उसका लक्ष्य अनचाही चीजों को जबरिया हमारे जीवन में ठूंसकर हमारे जीवन को, उसके स्वाद को, उसकी खुशियों को, उसके दुःख को, अपने अनुकूल करता चला जाना है। नासिर की कविताएं इन सबके प्रति चिंता की कविताएं हैं, तभी एक कविता में अचानक कवि कह उठता है—'अब/विशेषता मत बताना/विशेषण मत लगाना/पेटेंट हो जाएगा।''

खाना-खजाना, रिमिक्स, किताब का कवर, मनुष्य, पालिश वाला जैसी कविताएं हमें उन अनुभूतियों के पास टिकाने की कोशिश की कविताएं हैं, जिनसे इस आपाधापी के समय में हम दूर छिटककर जी रहे हैं, बेखबर हो रहे हैं, इन संवेगों के पास हमें नासिर की कविताएं ले जाती हैं, अपनी कविता में नासिर लिखते हैं—''इतने साल बाद/ईमानदारी से सोचा/क्या वाकई/इतनी उम्र जिया/रिश्तों से कटते

लगातार/मरते समाज में।'' सानिया मिर्जा पर कवि की एक कविता है—''घुटने के ऊपर खेल-ड्रेस/चेन-नथ/जीत या हार का/चेहरा/बकअप सानिया! बकअप!/मौलाना कुछ बोले क्या?''

यह कविता पढ़कर कुछ लगा आपको! नासिर की कविताएं हमारे हृदय के कैनवास को बड़ा करती हैं। उसे व्यापक बनाती हैं। ये कविताएं हमारी उन संवेदनाओं को शब्द देती हैं, जिन्हें हम महसूस तो करते हैं, लेकिन उन्हें व्यक्त कर सामने लाने की जरूरत नहीं महसूस करते हैं या उन्हें व्यक्त करने की सामर्थ्य और साहस नहीं होता। इन संवेगों को व्यक्त करने की सामर्थ्य ही कवि को समकालीन हिंदी कविता में एक मुकम्मल पहचान देती है। आधुनिक पूंजीवाद से निर्मित बाजार और भूमंडलीकरण हमारी संवेदनाओं पर सबसे तेज और असरदार प्रहार कर रहा है, जिससे हमारी संवेदनाएं छटपटाकर पल-पल मर रही हैं। हमारी निजता हमारा अपना सबकुछ खत्म होता जा रहा है। मानो हम कठपुतलियों की भांति संचालित हो रहे हैं। हमारी चीजों से उनका स्वाद, हमसे हमारी आत्मीयता-सामाजिकता सब गायब होती जा रही है। हम या तो बाजार में होते हैं या फिर घर में। घर और बाजार के बीच प्रयोग होने वाले शब्द, भाव, विचार भाषा ही हमारा जीवन बनकर रह गया है। न चीजों के प्रति हमारी आत्मीयता है, न दुकान में बैठे दुकान को देखकर किसी प्रकार का कोई लगाव ही पैदा होता है। ये कविताएं इस पीड़ा की कविताएं हैं, जिसे कवि ने शब्द देकर अपनी कविताओं में पिरोकर रखा है। हम चीजों की निजताओं और खुसूसियत से परिचित नहीं होते हैं, न उनसे कोई जुड़ाव होता है, इसलिए हमारे खुलूस से इस आधुनिक पूंजीवाद को कभी खतरा नहीं महसूस होता है। जिनको खत्म नहीं कर पाता, तोड़ नहीं पाता, इसलिए वह उनको पेटेंट कराने की सोचता है। हमारा शरीर और उसके पैरहन, स्वाद, रहन-सहन सब तो उसकी गिरफ्त में हैं। हमारे दुःख और उनको महसूस करने की शिद्दत, हँसी की खिलखिलाहट, जीवन का उल्लास, इस सबको भी वह पेटेंट कराने में संलग्न है।

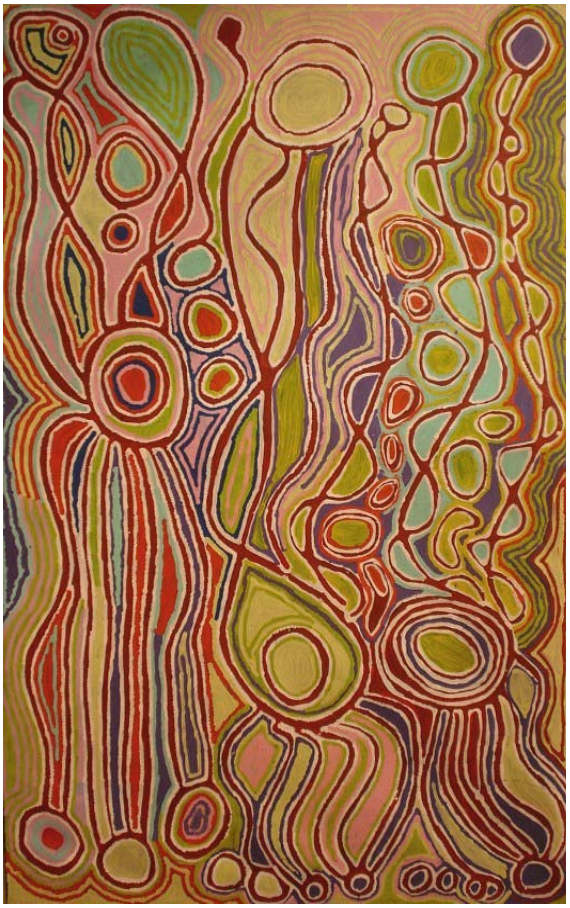

वह हमारी हँसी-खुशी, जीवन और उसके दुःख, पीड़ा, मौत और उल्लास को गिरफ्त में करने की कोशिश में संलग्न है। नासिर अपनी एक कविता में बखूबी सामने रखते हैं। ''हमारे दैनिक जीवन की/जरूरतों के उत्पाद यदि/बीस/तो उन्हें बनाने वाली कंपनियां/दो सौ दस/और/विज्ञापन की संख्या/चार सौ बीस।'' आधुनिक पूंजीवाद का विज्ञापन ही प्राणवायु है। अभी हाल ही में मैंने एक जगह पढ़ा है कि 'अन्ना हजारे' के धरने से मीडिया ने 1800 लाख या करोड़ पैदा किए हैं। यह है आधुनिक पूंजीवाद, जो हमारी हर सांस और बास से कमा रहा है और उसी से हमें बांधकर नचा रहा है।

वस्तुतः नासिर अहमद सिकंदर सूक्ष्म संवेगों के कवि हैं। उन संवेदनाओं के कवि हैं, समय की इस आपाधापी में जिनसे हम बेखबर रहते हैं, उन्हें हम गौर नहीं करते हैं। यह कविताएं जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों और संवेगों को दर्ज करती चलती हैं, जिन्हें पढ़कर सुख का अनुभव होता है। देखिए नासिर अहमद सिकंदर की यह कविता—''किसी ने फिकरा कसा अच्छा/प्रधानमंत्री न हो तो/चल सकता है देश/पर स्त्री न हो तो/न चले घर/पल भर!''

स्त्री के महत्त्व को सामने लाती यह छोटी-सी कविता, नहीं, इस दुनिया-समाज की हकीकत है। इन छोटी-छोटी कविताओं में दुनिया और समाज की बड़ी सच्चाइयां बुनी हैं, जिन्हें नासिर ने शब्दों में बांधकर सहज शिल्प में प्रस्तुत कर अर्थवत्ता प्रदान की है, जो इसके साथ-साथ रचनाकार को एक मुकम्मल पहचान भी देती हैं।

नासिर की कविताएं ऐसे अनुभव एवं अनुभूतियों की कविताएं हैं, जो अनुभव दर्ज न होकर छूटते चले जाते हैं। यह छोटी-छोटी कविताएं उन क्षणों को लेकर लिखी गई हैं, जो अमूमन पैदा होते ही मर जाती हैं, लेकिन नासिर की सजग दृष्टि उन्हें ग्रहण ही नहीं करती, बल्कि उन्हें अपनी रचना का मुख्य विषय ही बनाकर अपने काव्य संसार का सृजन करती है। नासिर की एक कविता देखें कैसे रचनात्मकता बुनकर तैयार की गई है, ''एक समान खाने बारह आयताकार/हर खाने में/रंग अलग/जैसे/एक अपार्टमेंट/बारह घर।''

नासिर की ये कविताएं पढ़ते हुए यह महसूस होता है कि यह सब तो हमने भी देखा है, लेकिन चीजों की या दृश्यों की अर्थवत्ता इस तरह बदल सकती है। ऐसा हमें क्यों नहीं महसूस हुआ, यह महसूसना ही रचनात्मक दृष्टि होती है, जो चीजों की अर्थवत्ता को खोलकर सामने ले आती है। चीजों को इस तरह से देखने और उनकी अर्थवत्ता को सामने लाने की सामर्थ्य ही नासिर को कवि बनाकर उन्हें अपने समय के कवियों के बीच अपनी पहचान के साथ खड़ा करती है।

भूलवश और जानबूझकर/नासिर अहमद सिकंदर/यश पब्लिकेशन्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/मूल्य : ₹ 150

डी.एम. कालोनी, सिविल लाइंस, बांदा-210001, मो. 094501-69568

हिंदी का लोकवृत्त : एक दस्तावेज़ी खोज

रामशंकर द्विवेदी

'हिंदी का लोकवृत्त' (1920-1940), 'राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य' दरअसल अंग्रेजी लेखिका फ्रांचेस्का आर्सीनी का पी-एच.डी. उपाधि के लिए अंग्रेजी में लिखे गए शोध-प्रबंध का हिंदी रूपांतर है। अनुवाद किया है हिंदी के ख्यात लेखक नीलाभ ने।

इस अनुसंधान की प्रकृति हिंदी में लिखे जा रहे शोध-प्रबंधों से हटकर मौलिक और दिशा-दर्शक है। हिंदी के तथाकथित शोध-प्रबंधों की हालत बहुत ही दयनीय और चिंताजनक है। उनमें उद्धरण-बहुलता, पिष्टपेषण, अपरिपक्व विवेचन, भाषा अत्यंत लचर, विचारों की तलछट के अलावा और कुछ नहीं मिलता है। फ्रांचेस्का का यह कथन विचारणीय है :

''आर्यभाषा पुस्तकालय, वाराणसी या हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद के पुस्तकालय में बैठकर आसपास बैठे, 'हिंदी-कहानी में दांपत्य-चेतना' या 'महादेवी की कविता में नारी' पर शोध-प्रबंध लिखने वाले छात्र-छात्राओं पर कितना तरस आता था, जो मौलिक खोज के रोमांच और उल्लास से वंचित थे। मेरे शोध के विषय में मुझे लगता था, हजारों नए विषय खुलते जा रहे हैं। जहां तक संभव हुआ, मैंने उनको समेटने की कोशिश की, मगर गुंजाइश अब भी बहुत है (हिंदी अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ 14)।

इस खोज की दुनिया हिंदी के अतीत का वह परिसर है, जो आज से सत्तर-इकहत्तर वर्ष पहले हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं, पाठ्य-पुस्तकों और भाषायी आंदोलनों, उसके राजनीतिक संदर्भों में फैला हुआ था। उसका काम महज 'गड़े मुर्दे उखाड़ना नहीं' अतीत को जानने-समझने से हमें अपने वर्तमान को जानने-समझने में मदद मिलती है। इसमें साझेदारी करना है। उसका मानना है : हिंदी के पाठक यह किताब पढ़कर उस विविध तथा गतिशील अतीत के प्रति गर्व महसूस करेंगे, उसकी जटिलता से प्रभावित होंगे तथा कई भूले-बिसरे लेखकों और पत्र-पत्रिकाओं को फिर से पढ़ने की इच्छा महसूस करेंगे। (वही, पृष्ठ 14)

दरअसल 'हिंदी का लोकवृत्त' शीर्षक से किए गए इस कार्य के पीछे लेखिका की क्या दृष्टि है, उसके कार्य की सीमा और क्षेत्र क्या है, अपनी स्थापनाओं को विस्तार और गहराई देने के लिए उसने किस सामग्री का उपयोग किया है, इसे समझना बहुत जरूरी है, नहीं तो भ्रम में पड़ने की आशंका है। उसने लिखा है, ''लिहाजा प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य शुद्धरूपेण हिंदी-साहित्य नहीं है, बल्कि इसके

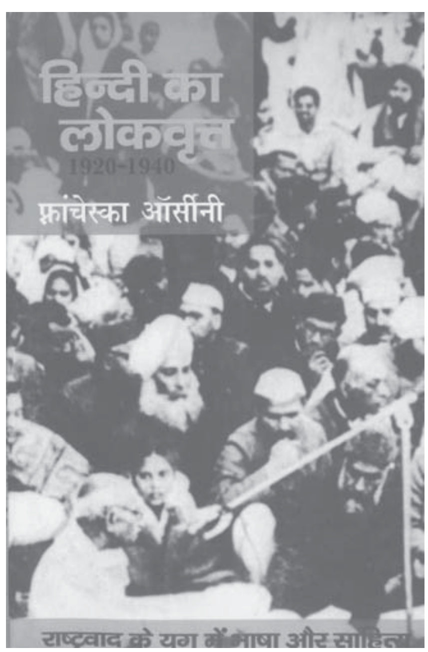

विपरीत समूचा हिंदी साहित्यिक तंत्र है।'' (वही, पृ. 24)। इस दृष्टि से उसके लिए संस्थाएं, खासतौर पर समाचार-तंत्र, स्कूल और प्रकाशन-गृहविशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रहे हैं। (वही, पृ. 255)

लेखिका का विवेचन दो पुस्तकों पर आधारित है, एक तो वसुधा डालमिया की पुस्तक 'द नैशलाइजेशन ऑफ हिंदू ट्रेडीशंस', दूसरी पुस्तक है : बेनेडिक्ट एंडरसन की 'इमैजिंड कम्यूनिटीज़, लंडन वर्सो, 1983 तथा एक पुस्तक है जुर्गेन हेबरमास की 'द स्ट्रक्चरल ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ द पब्लिक स्फियर', केम्ब्रिज, 1989)'' बल्कि यों कहना चाहिए कि हेबरमास की पुस्तक ही उनकी विवेचना की आधारभूमि बनी है। इस संबंध में खुद लेखिका का कहना है, ''बहुत-सी बातों में मेरी यह किताब बनारस, इलाहाबाद, आगरा और पटना जैसे शहरों में हिंदी के जनपद के आरंभिक चरणों के बाद के विकास का लेखा-जोखा लेने के सिलसिले में वसुधा के काम की ही अगली कड़ी है।'' (वही, पृ. 22)

दूसरी तरफ सार्वजनिक क्षेत्र के बारे में हेबरमास ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के यूरोप के बुर्जुवा समाज का जो विश्लेषण किया, उसी से 'सार्वजनिक क्षेत्र' की उनकी परिभाषा उपजी है। इस समाज में 'आम नागरिक जनता के तौर पर' एकजुट हुए थे ताकि वे 'सार्वजनिक सरोकार' या 'सामान्य हित' के मामलों की चर्चा कर सकें और निरंकुशतावादी राज्य की आलोचना करके उस पर दबाव डाल सकें (वही, पृ. 27 पर उद्धृत)

हेबरमास का मत है कि इसी सार्वजनिक हित की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश की जनता 'सार्वजनिक क्लबों', पत्र-पत्रिकाओं, समाचार-पत्रों, साहित्यिक

संस्थाओं, भाषायी आंदोलनों की स्थापना और परिचालना करती है। लेखिका ने 1920 तथा 1940 ईस्वी की अवधि में इसी सार्वजनिक मत की अभिव्यक्ति के लिए हिंदी की जो पत्र-पत्रिकाएं, साहित्यिक संस्थाएं गढ़ी गईं और उनके माध्यम से जिन विमर्शों का प्रचार हुआ, उनकी विवेचना की है, लेकिन लेखिका ने इस संदर्भ में अपनी स्वतंत्र बुद्धि का भी परिचय देकर हेबरमास की सार्वजनिक क्षेत्र-संबंधी परिभाषा की कमियों की ओर भी संकेत किया है। हेबरमास की परिभाषा में महिलाएं और निचला वर्ग शामिल नहीं था, जबकि लेखिका के विवेचन में इन दोनों का स्वर सुनाई देता है। उसका कहना है, ''हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र का प्रमुख भाग सामाजिक रूप से दबे हुए हिंदी के जिस मध्यवर्ग से बना है, वह हेबरमास के लेखे-जोखे में शामिल ऊर्ध्वगामी और आत्मविश्वास-भर बुर्जुवा वर्ग से बहुत कम समानता रखता है। (वही, पृ, 31)

अपनी पुस्तक के विवेचन-क्षेत्र के बारे में लेखिका का कहना है : इस तरह यह पुस्तक उन संस्थाओं और कार्यकर्ताओं के काम-काज का खाका तैयार करेगी, जिन्होंने मिलकर हिंदी के साहित्यिक क्षेत्र (अध्याय-1) और राजनैतिक क्षेत्र (अध्याय-5) को निर्मित किया; और समाचार-तंत्र, शिक्षा-व्यवस्था और दूसरे माध्यमों में प्रचलित विमर्शों का विश्लेषण करेगी (अध्याय 2 और 3)। हिंदी-क्षेत्र तक पहुंच बनाने के लिए नए स्वरों को जिन रणनीतियों की आवश्यकता थी, उन्हें महिलाओं के बारे में एक अलग परिच्छेद (अध्याय 4) में परखा जाएगा (वही, पृ. 33)।

जाहिर है ऊपर के विवेचन से इस ग्रंथ की प्रकृति और उसकी सीमा की कुछ-कुछ बानगी मिलती है। यह पुस्तक न तो भाषायी रूपों का अध्ययन है, न साहित्यिक प्रवृत्तियों का और न काव्य-रूपों का, जबकि इसके विवेचन में इन सबको समाहित किया गया है। भाषा का अध्ययन है, किंतु इस दृष्टि से कि उर्दू और खड़ी बोली का परस्पर संबंध क्या था, दोनों भाषाओं से संबंधित सामाजिक, राजनैतिक वर्ग कौन-से थे, इनसे संबंधित पत्र-पत्रिकाओं और समाचारपत्रों में छपे साहित्य और समाचारों का संबंध समाज के किस वर्ग से था, उनमें कौन-कौन-सी समस्याएं, मुद्दे उठाए जाते थे। एक तरह से इस ग्रंथ के अध्ययन की प्रकृति सामाजिक और राजनैतिक है।

फ्रांचेस्का ने अपने अध्ययन को पांच अध्यायों तथा कई उप-अध्यायों में बांटा है, जैसे भाषा और साहित्यिक क्षेत्र, भाषा, साहित्य और प्रचार, इतिहास के उपयोग, स्त्रियां और हिंदी की दुनिया, हिंदी का राजनैतिक क्षेत्र और अंत में उपसंहार। इसका परिशिष्ट भाग भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भाषा और साहित्य के क्षेत्र में, जो विभूतियां कार्यरत रही हैं, उनमें से लगभग 67 व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय इस भाग में दिया गया है, हालांकि इसमें कुछ कमियां भी हैं और परिचय उतना पूर्ण तथा सटीक नहीं है और अनुवादक नीलाभ ने भी उन्हें ठीक करने की कोशिश नहीं की है। जैसे डॉ. रामकुमार वर्मा की जन्म-तिथि तो दी गई है, लेकिन उनकी मृत्युतिथि का कोई उल्लेख नहीं है। इसी तरह वियोगी हरि का मूल नाम हरिहर प्रसाद द्विवेदी था तथा उनकी मृत्यु-तिथि वह नहीं है, जो इस ग्रंथ में दी गई है, वे 1988 तक जीवित थे, उनकी जन्म तिथि 1896 है। उत्तर प्रदेश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के कन्नौज अधिवेशन 1985 में उन्होंने भाग लिया था और इस लेखक ने उनका फोटो भी खींचा था। इसी तरह रामचंद्र वर्मा के परिचय में हिंदी-साहित्य- सम्मेलन से प्रकाशित उनके मानक हिंदी कोश का कोई उल्लेख ही नहीं है। पीतांबर दत्त बड़थ्वाल की न जन्म तिथि दी गई है, न मृत्यु तिथि। इसी तरह रामचंद्र शुक्ल की जन्म और मृत्यु तिथि दोनों गलत दी गई हैं। उनका जन्म सन् 1884 तथा मृत्यु सन् 1941 है। साथ ही जीवनियों में दिया गया साहित्यकारों का परिचय सटीक और सही नहीं है, आधा तथा अधूरा हैं। उसके लिए लेखिका सही आधार ग्रंथों का अनुशीलन तथा संदर्भ नहीं ले सकी है। जैसे बनारसीदास चतुर्वेदी का विवरण लीजिए। फ्रांचेस्का ने लिखा है, ''1937 में वे टीकमगढ़ चले गए, वहीं उन्होंने मासिक मधुकर (1940-52) का संपादन किया।'' (वही, पृ. 488) किंतु वास्तविकता क्या है। वास्तव में बनारसीदास चतुर्वेदी जी 1936 तक टीकमगढ़ पहुंच चुके थे। मधुकर का पहला अंक 1 अक्टूबर, 1940 को और अंतिम अंक दिसंबर, 1946 ईस्वी में निकला था। यह मासिक पत्र न होकर पाक्षिक था (क्षेत्रीय पत्रकारिता का आदर्श : 'मधुकर' डॉ. कैलाश बिहारी द्विवेदी का लेख)। कहने का तात्पर्य यह है जिन साहित्यकारों और हिंदी-सेवियों की जीवनियां दी गई हैं, उनसे उनका कोई सटीक बिंब नहीं उभरता है। फिर भी इस ग्रंथ की उपादेयता अक्षुण्ण है। उसके कई कारण हैं।

पहला तो यही है कि शोध का विषय, उसकी दिशा, उसमें विचरण करने की दृष्टि, जो भी सामग्री संकलित की गई, उसके साथ बर्ताव बिलकुल भिन्न और नवीन है। जैसे इसमें पहली बार यह विचार किया गया कि हिंदी की पत्र-पत्रिकाएं किस प्रकार धीरे-धीरे व्यावसायिक होती गईं, किस प्रकार संपादक एक वेतन-भागी संस्था में परिवर्तित होता गया, उसे मालिक की इच्छा के अनुसार संपादन के अलावा प्रूफ रीडिंग, पाठ्य-पुस्तकों की रचना, विज्ञापन तथा पत्रिका और पुस्तकों के प्रचार-प्रसार का भी काम करना पड़ता था। इसके लिए फ्रांचेस्का ने देवीदत्त शुक्ल (सरस्वती तथा बालसखा के संपादक) तथा प्रेमचंद (सुधा-संपादक) के उदाहरण दिए हैं। हिंदी का प्रचार-प्रसार करने वाले व्यक्तियों को दो कोटियों में बांटा गया है—पहला संवैधानिक संस्थाओं और मर्यादाओं में काम करने वाला वर्ग (शिवप्रसाद सितारे हिंद तथा राजा लक्ष्मण सिंह जैसे व्यक्ति) तथा संवैधानिक संस्थानों से इतर जैसे मदनमोहन मालवीय और गणेशशंकर विद्यार्थी।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि लेखिका ने अपने शोध-कार्य को पांच अध्यायों में बांटा है, किंतु विषय का आयाम और शाखा-प्रशाखाओं का पता उनके उपविषयों से चलता है, जैसे पहला अध्याय 'भाषा और साहित्यिक क्षेत्र' को चार विभागों तथा बारह उपविभागों में बांटा गया है। जैसे भाषा के प्रश्न में यह विचार किया गया है कि किस प्रकार से सरकारी काम-काज में बरती जाने वाली भाषा उर्दू और फारसी को अपदस्थ कर हिंदी खड़ी बोली ने अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए संघर्ष प्रारंभ किया। ब्रिटिश काल में देशी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए देसी भाषाओं में पाठ्यपुस्तकें तैयार

कराई गईं। इसमें भूदेव मुखोपाध्याय, लाला सीताराम और खड्गविलास प्रेस तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी और आगे चलकर दुलारेलाल भार्गव का क्या योगदान है। हिंदी साहित्यिक क्षेत्र में विविधता उपविभाग के अंतर्गत पहली बार साहित्यिक पाठक-वर्ग की छानबीन की गई है। इसी तरह 'साहित्य के अखाड़े' में उर्दू मुशायरों की तर्ज पर हिंदी कवि-सम्मेलनों के हिंदी के प्रचार-प्रसार और जनता की पठन और काव्यरुचि के विकास में ऐतिहासिक योगदान पर विचार किया गया है। इसी उप-अध्याय में हिंदी के प्रकाशन उद्योग पर भी विचार किया गया है, जो शोध की दृष्टि से एक नई विचार-सरणि है। इस ग्रंथ में ऐसे कई नए आयामों का उद्घाटन किया गया है, जिन पर अभी तक शोधार्थियों की दृष्टि ही नहीं गई थी।

पुस्तक-समीक्षा में प्रचलित दो शब्दों की दृष्टि से पुस्तक पर विचार किया जाता है। एक है कि क्या यह पुस्तक पठनीय है अथवा क्या इस पुस्तक में पठनीयता है। मेरा कहना है इस पुस्तक में पठनीयता तो है ही, पर यह पुस्तक पठनीय भी है। कोई भी नई पुस्तक छपने पर उसकी समीक्षाएं निकालने में ही हमारे कर्तव्य की इति-श्री समझ ली जाती है और पुस्तक के विमोचनों में रस्म अदायगी भर होती है। फ्रांचेस्का की यह पुस्तक ऐसी है, जिस पर छोटी-छोटी गोष्ठियां होनी चाहिए, ताकि इसकी विषयवस्तु की नवीनता पर व्यापक चर्चा हो सके, पर हिंदी में इस प्रकार की परंपरा ही नहीं है। फ्रांचेस्का ने हिंदी अनुवाद की भूमिका में लिखा है, "मुझे बेहद खुशी हो रही है कि मेरी यह किताब आखिरकार अपने असली पाठकों तक पहुंच रही है, और इसके लिए मैं नीलाभ की आभारी हूं, जिन्होंने अनुवाद का काम अपने ऊपर लिया।" अंग्रेजी में लिखे इतने बड़े, जटिल, हजारों उद्धरणों से समाकुल ग्रंथ के अनुवाद का भार लेने में नीलाभ ने एक बार सोचा तो होगा ही! उनके लिए यह कार्य एक चुनौती था और इस पुस्तक के पारायण के बाद मेरी धारणा है कि नीलाभ ने यह कार्य बड़ी निष्ठा और गंभीरता से किया है। इसमें आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख उन्होंने अपनी भूमिका 'दो शब्द' में किया है। उन्होंने बड़ी विनम्रता से स्वीकार किया है, "यह अनुवाद जिस हद तक मेरा किया हुआ है, उसी हद तक, या कहूं कि उससे ज्यादा फ्रांचेस्का का है। इस पुस्तक की महत्ता के संबंध में नीलाभ का यह कथन युक्ति-युक्त है कि फ्रांचेस्का की यह किताब हमें बिना आंख में उंगली गड़ाए ऐसे बहुत-से सूत्र उपलब्ध कराती है, जिन्हें हम अपनी भाषा को जीवंत बनाने के लिए काम में ला सकते हैं।" (वही, पृ. 7-8)

फिर भी इस पुस्तक की कुछ सीमाएं हैं, उन्हें भी अपने दृष्टि-केंद्र में रखना चाहिए। 1920 से लेकर 1940 की अवधि के बीच हिंदी की दुनिया पर एक विदेशी महिला ने विचार किया है, हालांकि उसका दावा है कि मैंने 'शुद्ध हिंदी' सीखने और आधुनिक हिंदी के शैक्षिक और साहित्यिक संस्कार ग्रहण करने के बाद यह कार्य हाथ में लिया। इस ग्रंथ में समाविष्ट हिंदी की दुनिया पर विचार करते हुए मुझे बार-बार गांधीवादी विचारक धर्मपाल का यह कथन याद आता रहा कि अपना अध्ययन भी परकीय दृष्टि से। इसलिए फ्रांचेस्का ने बार-बार ऐसे उद्गार व्यक्त किए हैं कि आखिरकार विशुद्ध, साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी ने उर्दू-फारसीबहुल आम हिंदुस्तानी भाषा को अपदस्थ करके अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। हिंदी अपनी विशेषताओं और आज की आवश्यकताओं के कारण आम-फहम की भाषा बनी और पूरे भारत में संपर्क भाषा के रूप में फैल गई। फिर भी फ्रांचेस्का के इस कार्य की उपादेयता निर्विवाद है। इसके आगे का कार्य यह हो सकता है कि 1940 से 1960 तथा तदनंतर अद्यावधि तक हिंदी की दुनिया ने कौन-सा रूप ग्रहण किया। पाठ्य-पुस्तकों, प्रकाशन संस्थानों, पत्र-पत्रिकाओं के आधार पर उसका लेखा-जोखा लिया जाए, तब फ्रांचेस्का का काम और भी ऐतिहासिक पीठिका पर आसीन तो हो जाएगा।

हिंदी का लोकवृत्त (1920-1940)/फ्रांचेस्का आर्सीनी/ हिंदी अनुवाद : नीलाभ/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 700

1260, नया रामनगर, पाठक का बगीचा, उरई-285001 (उ.प्र.), मो. 09839617349

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/ रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने—एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

आयातित संदर्भों के बरक्स

श्रीभगवान सिंह

कुछ समय पूर्व समकालीन हिंदी आलोचना के परिदृश्य पर वरिष्ठ आलोचक डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने यह टिप्पणी दर्ज की थी, ''फ्रायड, मार्क्स, माओ के विचारों ने हिंदी आलोचना को उसकी मूल धुरी से उतारकर पश्चिमी अवधारणाओं का मानसिक गुलाम बना दिया है। उत्तर आधुनिकतावाद, उत्तर संरचनावाद ने अनगिनत ऐसी अवधारणाएं दी हैं, जिनसे गुलामी की मानसिकता का शब्द-भंडार तो बढ़ा है, लेकिन आलोचना में विचारों का अंधेरा है। परंपराओं से टूटकर उसने अर्थ-संदर्भ खो दिया है। समकालीन आलोचना की यह बेहद पीड़ादायक स्थिति है।'' उनकी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'हिंदी आलोचना का उत्तर आधुनिक विमर्श' इस 'पीड़ादायक स्थिति' से उबरने के एक सशक्त प्रयास के रूप में सामने आई है।

हिंदी आलोचना के इतिहास पर गौर करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्र-बंधुओं, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने हिंदी आलोचना का जो स्थापत्य खड़ा किया, वह देशज जमीन से जुड़ा हुआ था। साहित्य को अपने देश-समाज की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब मानते हुए उसकी संगति में शानदार प्रयास के रूप में किसी आलोचना का वितान रचा गया, लेकिन 1936 से प्रगतिशील आंदोलन के दबाव में समाजवाद, मार्क्सवाद के वैज्ञानिक चिंतन के नाम पर हिंदी आलोचना में विदेशी विचारों के आयात का जो सिलसिला शुरू हुआ, उसमें उसके बरक्स उभरे संरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावाद, विखंडनवाद आदि इजाफा करते जा रहे हैं। इन पश्चिमी विमर्शों से मोहाविष्ट हमारे आलोचक भारत के साहित्यिक एवं काव्यशास्त्रीय मूल्यों को दफनाने में ही अपनी आधुनिकता एवं प्रगतिशीलता समझने लगे हैं। इस प्रवृत्ति ने हमारा कितना अनिष्ट किया है, उसकी तरफ संकेत करते हुए डॉ. पालीवाल यह साहसिक वक्तव्य देते हैं, ''मार्क्सवादी चिंतन और आधुनिकतावादी चिंतन से जब भी हमने हिंदी समीक्षा का समर लड़ा है, तब-तब प्राचीन और नवीन सर्जनात्मकता के उत्तमांश को समझने-परखने में असहाय होते गए। पश्चिमी सोच का घटिया विभाजन 'रिलीजियस लिटरेचर' और 'सेक्यूलर लिटरेचर' हमारी मानसिकता को बनाने-मिटाने लगा। हम भूल गए कि हमारी बहुसांस्कृतिक, बहुलतावादी संस्कृति में इस तरह का कभी विभाजन न रहा, न है, न हो सकता है। कोई भी भारतीय संस्कृति से मनुष्य प्रकृति, धर्म, अध्यात्म, दर्शन को अलग नहीं कर सकता। इस तात्विकता को समझते हुए ही अरविंद और गांधी पश्चिमी सोच की आधुनिकता से डरते थे।'' (पृ. 225)

पश्चिम से आई आधुनिकता की आंधी से जीवन की संपूर्णता उड़ चली तो साहित्य भी अधूरे जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति बनने

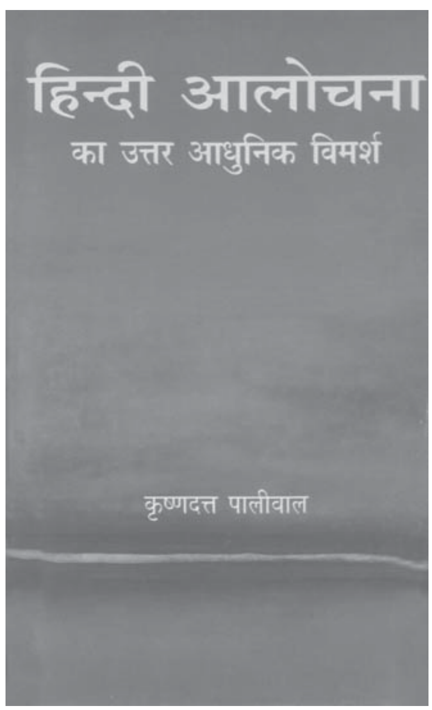

लगा और उसका विमर्श करने वाली आलोचना भी एकांगी होती गई, किंतु भारतीय संस्कृति के संपूर्णता बोध से संवलित डॉ. पालीवाल का आलोचकीय विवेक आधुनिकतावाद के नजरिए से भारतीय काव्यशास्त्र का सांप्रदायिक विभाजन करने वाली प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं करता, ''भ्रमित बौद्धिकों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन 'पूरा गलत पाठ' के ढंग से प्रस्तुत किया। यह भ्रांति भी संस्कृत काव्य और शास्त्र के पाठक के मन में बैठाई गई कि संस्कृत काव्य शास्त्र का विकास पांच-छह-सात संप्रदायों के भीतर एक बंधी लीक पर हुआ। आज काव्यशास्त्र के इस संप्रदायगत विभाजन को गलत और भ्रामक मानना होगा, क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र की संवाद-विवाद परंपरा में करारी से करारी बहसें तो हुईं, लेकिन इस प्रकार के संप्रदायों की अवधारणा नहीं रही है। रस और ध्वनि, रीति और वक्रोक्तिवादी टकराते रहे, जिससे विकास हुआ, पतन नहीं। काव्य-शरीर (बहिरंग) काव्य की आत्मा (अंतरंग पक्ष) पर केंद्रित चिंतन धाराओं के संघर्ष से जो विकास परिष्कार हुआ, उसका एक अपूर्व उज्ज्वल इतिहास है। इस परंपरा को भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्रीय चिंतन ने धरोहर के रूप में पाकर आगे बढ़ाया है। हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर मुक्तिबोध, अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही, नलिन विलोचन शर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा, रमेशचंद्र शाह तक अद्भुत ढंग से विकास हुआ है।'' (पृ. 35)

डॉ. पालीवाल को मार्क्सवाद हो या उसके विरोध में उभरे अन्य पश्चिमी विमर्श हों, सब हिंदी आलोचना को अपना उपनिवेश बनाते नजर आते हैं, ''प्रश्न उठता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि के प्रकाश को प्रगतिवादियों ने अपनी विचाराधारात्मक वरीयताओं और आधुनिकतावादियों ने किस तरकीब और तिकड़म से मैला कर भटका दिया।...भारतीय समीक्षा, खासकर हिंदी आलोचना का

यूरोपीयकरण इस तरह क्यों किया कि हमारी समीक्षा यूरोप का उपनिवेश बन गई। न प्रगतिशीलों ने अपनी 'थ्योरी' पर, न आधुनिकतावादियों ने अपनी सैद्धांतिकी पर लादने में कोई हिचक महसूस की?'' (पृ. 223)

उपनिवेशवाद की वैचारिक चाकरी से हिंदी आलोचना को मुक्त कराने के प्रयास में डॉ. पालीवाल साहित्य-संस्कृति की भारतीय परंपराओं को खंगालते हैं और उसकी संगति में आधुनिकता का देशज पाठ आविष्कृत करने वाले गांधी, अरविंद, लोहिया आदि के चिंतन के समीप पहुंच जाते हैं। विदित हो कि गांधी के बाद राममनोहर लोहिया ने एक स्वदेशी चिंतक के रूप में हिंदी के बहुतेरे साहित्यकारों को प्रभावित किया। मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता का जाप करने वालों से अलग हटकर लोहिया ने राजनीति में समाजवादी सोच का स्वदेशी मॉडल खड़ा किया, तो उनसे प्रभावित विजयदेव नारायण साही, रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवीर सहाय, रमेशचंद्र शाह इत्यादि ने साहित्य में मार्क्सवाद की बंदिनी बनी प्रगतिशील रचनाशीलता के बरक्स गैर-मार्क्सवादी लेखन का प्रगतिशील प्रतिपक्ष रचा। कृष्णदत्त पालीवाल इन सबके चिंतन से पाथेय ग्रहण करते हुए इस प्रगतिशील प्रतिरोध को आगे बढ़ाते हैं। इस संदर्भ में वे लोहिया के अवदान के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, ''डॉ. लोहिया ने खुले विचारों से गंगा-जमुनी संस्कृति को इस कदर मजबूत किया था कि तमाम चित्रकार-कलाकार उनसे प्रभावित होकर आगे बढ़े। चित्रकला में एन. एस. वेंद्रे सच्चे अर्थों में चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन के गुरु थे और लोहिया से प्रभावित। हुसैन ने 1968 में अपनी रामायण श्रृंखला का श्रीगणेश किया तो इस कार्य की प्रेरणा उन्हें डॉ. राममनोहर लोहिया से मिली। लोहिया का 'रामायण मेला' चित्रकूट तक ही सीमित नहीं रहा, वह पूरे देश में एक नया सांस्कृतिक जागरण लाया। डॉ. लोहिया के इस विचार का बौद्धिकों ने जोरदार स्वागत किया कि हमारी सभ्यता संस्कृति के मूल में इतिहास नायक नहीं हैं—मिथक पुरुष हैं—राम, कृष्ण और शिव'। (पृ. 89)

डॉ. लोहिया के इस सांस्कृतिक बोध का ही प्रभाव है, जिसके तहत डॉ. पालीवाल भारत की लोक संस्कृति में कबीर की अपेक्षा तुलसी की अधिक पैठ को लक्षित कर पाते हैं, ''यह सच है कि भारतीय लोक संस्कृति में कबीर से ज्यादा तुलसीदास भिदे हुए थे और हिंदुस्तान की परंपराओं का सबसे ज्यादा जानकार कोई ज्ञानी-ध्यानी कवि था तो तुलसीदास। आगम-निगम परंपराओं का अमृत निचोड़कर जनता को देने की शक्ति कोई रखता था तो 'तुलसीदास'।'' (पृ. 80) डॉ. पालीवाल के इस कथन को डॉ. नंदकिशोर नवल की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'तुलसीदास' भी पुष्ट करती है।

उल्लेखनीय है कि विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, रमेशचंद्र शाह, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि को खेमाबंद प्रगतिशीलों ने मार्क्सवाद-प्रगतिशीलता विरोधी घोषित कर रखा, जबकि सत्य यह है कि इन्होंने हिंदी आलोचना में मार्क्सवाद से अधिक उसकी उस कम्युनिस्ट परिणति का विरोध किया है, जिसने साहित्य को एक खास राजनीतिक मतवाद का अनुचर बना रखा है। डॉ. पालीवाल की भी पहचान मार्क्सवाद विरोधी के रूप में की जाती है, लेकिन सत्य यह है कि वे भी मार्क्सवाद के नाम पर साहित्य संस्कृति को स्वदेशी परंपराओं, जड़ों से काटकर उसे विदेशी सांचे में ढालनेवाली प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। वे मार्क्सवाद की एक हद तक सकारात्मक भूमिका को स्वीकार करने की उदारता दिखाते हैं कि 19वीं-20वीं शताब्दी को मार्क्सवाद के बगैर नहीं समझा जा सकता, उसने हमें जगाया है, सुलाया नहीं, किंतु वे उसे भारतीय संदर्भ में बहुत उपयुक्त नहीं मानते, क्योंकि हमारी हजारों सालों की परंपराएं हैं—सभ्यता संस्कृति है—जीवन पद्धति है। हमारी सोच को हमारा इतिहास, भूगोल, समाज, साहित्य, धर्म, दर्शन तय करता है। उसे पूरी तरह मार्क्सवादी अवधारणाओं के हवाले नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मार्क्सवाद की सोच यूरोप के अपने इतिहास से फूटी है। वह हमारे इतिहास से नहीं जनमी है।'' (पृ. 85)

मार्क्सवाद के प्रति ऐसी संतुलित समझ रखने के कारण ही डॉ. पालीवाल वैसे मार्क्सवाद लेखकों को सराहते हैं, जिन्होंने मार्क्सवाद की हदबंदी को लांघते हुए अपनी देशी परंपराओं, मूल्यों की जमीन पर साहित्य को परखने का कार्य किया है। इसलिए वे डॉ. रामविलास शर्मा के महत्त्व को उजागर करते हुए लिखते हैं, ''बड़ी बात यह है कि रामविलास शर्मा पर पश्चिमी आलोचना का किसी भी तरह का आतंक नहीं है। हिंदी जाति, हिंदी लोक जागरण, हिंदी नवजागरण, परंपरा और भारतीय संस्कृति जैसी उनकी तमाम अवधारणाओं पर गंभीरता से पुनर्विचार करने की जरूरत है। सच तो यह है कि समकालन हिंदी आलोचना के साहित्य विवेक को निर्मित करने में डॉ. रामविलास शर्मा की बहुत बड़ी भूमिका है।'' (पृ. 238) यही नहीं, वे मुक्तिबोध को भी इस बात के लिए दाद देते हैं कि ''हिंदी आलोचना के इस अंधेरे दौर में केवल ग. मा. मुक्तिबोध 'नई कविता का आत्म-संघर्ष और अन्य निबंध' पुस्तक में प्रगतिशीलता की मशाल जलाए रहे। बाकी प्रगतिशीलों ने तो असहमति और संवाद के सारे दरवाजे बंद कर लिए।'' (पृ. 219)

इस पुस्तक में 'देरिदा का डमरू', 'पश्चिमवाद का संकट', 'आलोचना का उत्तर-आधुनिकतावादी विमर्श' जैसे निबंध भी हैं, जो पश्चिम के अद्यतन विमर्शों से डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल के गहरे परिचय का प्रमाण देते हैं, लेकिन इनके साथ वे व्यवहार वैसा ही करते हैं, जैसा कि गांधी जी ने कभी कहा था, ''मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारों ओर दीवारों से घिरा हो और उसकी सभी खिड़कियां बंद हों। मैं चाहता हूं कि सभी देशों की संस्कृतियों की सुवासित वायु मेरे घर के चारों ओर बहे, लेकिन मैं ऐसी किसी वायु से अपने पांव नहीं उखड़ने दूंगा।'' यही आचरण है डॉ. पालीवाल का विदेशी विमर्शों के साथ। वे मार्क्सवाद समेत तमाम पश्चिमी वादों का अपनी देशज परंपराओं, सांस्कृतिक बोध के औजार से परीक्षण करते हुए उनकी सीमाओं तथा भारतीय संदर्भ में उनके लंगड़ेपन को अनावृत कर देते हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य, काव्यशास्त्र से लेकर आ. रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा जैसे आलोचकों के साथ-साथ गांधी, लोहिया जैसे राजनीतिक चिंतकों का मंथन करते हुए भारतीय साहित्य-संस्कृति के उज्ज्वल, श्रेष्ठ दाय में भरोसा एवं गर्व पैदा करना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है डॉ. पालीवाल की इस पुस्तक की।

हिंदी आलोचना का उत्तर आधुनिक विमर्श/कृष्णदत्त पालीवाल/यश पब्लिकेशंस, एक्स-1909, चांद मोहल्ला, गांधीनगर, दिल्ली-110031//मूल्य : ₹ 395

205, श्याम अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर-812001, मो. 09801055395

बेमेल मिश्रण का नमूना

योगेश प्रताप शेखर

लीलाधर जगूड़ी साठोत्तरी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। साठोत्तरी कविता में केंद्रीय तत्व आक्रोश था, जिसका चरमोत्कर्ष धूमिल की कविताओं में दिखलाई पड़ा। बाद में जगूड़ी ने अपना स्वाभाविक विकास साठोत्तरी कविता का अतिक्रमण करते हुए किया। ऐसी स्थिति में उनके काव्य में दिलचस्पी होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी दिलचस्पी का नतीजा है डॉ. धनीराम 'हीर' की पुस्तक 'लीलाधर जगूड़ी का रचना-कर्म'।

लेखक ने भूमिका में लिखा है कि उसे 'साठोत्तरी हिंदी कविता के संदर्भ में लीलाधर जगूड़ी का काव्य' विषय पर पी-एच. डी. उपाधि प्राप्त हुई। शोध के बाद जगूड़ी के काव्य में उसकी रुचि तथा जिज्ञासा और गहन होती गई, जिसके फलस्वरूप इस किताब की रचना हुई है। ऐसी स्थिति में यह पता नहीं चलता कि यह पुस्तक उसके पूर्ववर्ती शोध-कार्य का प्रकाशन है, उसका संवर्धित रूप है या फिर से लिखी गई स्वतंत्र किताब है। पुस्तक के ढांचे को देखते हुए यह अनुमान होता है कि यह दरअसल उसके शोध-प्रबंध का प्रकाशन है, मामूली हेर-फेर के साथ।

पुस्तक पांच अध्यायों में विभक्त है। पहले तीन अध्यायों में जगूड़ी के व्यक्तित्व और कृतित्व, उनकी कविता में व्यक्त जीवन-दृष्टि तथा उनकी कविता के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य पर विचार है। अगले अध्यायों में जगूड़ी के समकालीन कवियों की कविता का 'संदर्भगत आकलन' है। आखिरी अध्याय में उनकी कविता में व्याप्त अभिव्यंजना-कौशल का विवेचन है।

भूमिका में ही लेखक ने यह भी कहा है कि जगूड़ी की कविताओं पर कार्य करते समय उन्होंने पारंपरिक शास्त्रीय आलोचना पद्धति से बचने का प्रयास किया है। पूरी पुस्तक पढ़ने से यह बात खंडित हो जाती है। पुस्तक का पहला अध्याय ही व्यक्तित्व और कृतित्व है, जो पुरानी किताबों में हुआ करता था। दरअसल यह पुस्तक न तो उत्तम शोध-प्रबंध बन पाई है और न ही आलोचना की किताब। लेखक ने दोनों को जबरदस्ती मिलाना चाहा है, जिसके कारण अजीब तरह का मिश्रण हो गया है। हकीकत यह है कि शोध और आलोचना का परस्पर सहयोग दोनों के स्तर को ऊंचा उठा देता है, पर यह ध्यान रखने लायक बात है कि ये दोनों संबंधित होने पर भी अलग-अलग विधाएं हैं। यहां 'टू-इन-वन' वाली कामना फलीभूत

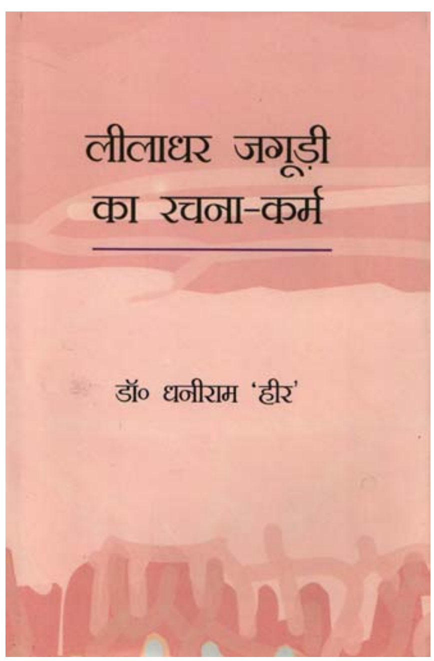

नहीं होती। मतलब यह कि शोध में आलोचनात्मक स्पर्श हो सकता है और आलोचना शोधपरक तथ्यों के आलोक में अपने को भासित कर सकती है। यह तो हुई पुस्तक में शोध और आलोचना की स्थिति। इसी तरह जगूड़ी के समकालीन कवियों पर तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अलग से विचार करना अनुपयुक्त है। ऐसा उनकी कविता पर ही बातचीत करते हुए यथास्थान किया जा सकता था।

जैसा कि पहले कहा गया पुस्तक के दूसरे तथा तीसरे अध्याय में जगूड़ी की कविता में व्यक्त जीवन-दृष्टि और उनकी कविता के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य पर विचार है। यहां भी कविता से इन सबको अलग-अलग करके रखा गया है। मसलन 'लीलाधर जगूड़ी की कविता में आर्थिक स्थिति, धार्मिक स्थिति'। यह भी पुराना तरीका ही है, जिसमें परिस्थितियों को बांटकर अलग-अलग जाना समझाया जाता था और तदनुरूप उदाहरण साहित्य से दिए जाते थे। कविता की खंडित छवि ग्रहण करने पर इस तरह की दुर्घटनाएं आम हो जाती हैं।

अंतिम अध्याय में कवि की कविता में उपस्थित 'अभिव्यंजना-कौशल' की व्याख्या करने का प्रयास है। यहां भी रेलवे-टाइम-टेबुल की तरह मुहावरों, लोकोक्तियों, तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज शब्दों, विशेषण आदि की सूची दी गई है। इन सबसे कविता का ग्रहण कैसे संभव है? इस तरह की सूची देना भी बहुत पुराना तरीका है।

इन सबके अलावा जहां-तहां लेखक की अनावश्यक अलंकृत भाषा अरुचि उत्पन्न करती है। ऐसे एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त

होंगे। भूमिका का ही पहला वाक्य है, "जब राष्ट्रीय क्षितिज पर भ्रष्टाचार भाई-भतीजावाद, विद्रूपताओं एवं विषमताओं का घनघोर अंधकार छाया हुआ था, तभी इस अंधकार में एक किरण फूटी, जो इस तिमिर को मिटाने के लिए तत्पर थी, जिसका नाम था लीलाधर जगूड़ी।" इसी तरह दूसरे अध्याय का पहला वाक्य है, "लीलाधर जगूड़ी साठोत्तरी हिंदी-कविता के वे चमकते सूरज हैं, जिनकी प्रखर किरणें आधुनिक समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंची हैं।" इस तरह का दावा तो तुलसी, कबीर, मुक्तिबोध आदि प्रथम श्रेणी के कवियों के बारे में भी नहीं किया जा सकता। दूसरे ऐसी भाषा कहीं से अपने वर्णित विषय के प्रति आकर्षण पैदा नहीं करती।

इस पुस्तक की खास बात यह है कि इसमें विवेच्य कवि की कविताओं के पर्याप्त उद्धरण हैं। उद्धरणों के चुनाव में यथासंभव सटीकता है। अगर कोई सिर्फ उद्धृत पंक्तियों को ही पढ़े तो जगूड़ी की कविता में उसका गहन अनुराग पैदा हो जाएगा। इस दृष्टि से लेखक और किताब की यह सबसे बड़ी सफलता है।

लीलाधर जगूड़ी का रचना-कर्म/डॉ. धनीराम 'हीर'/शुभदा प्रकाशन, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 500

द्वारा श्री रणविजय कुमार, नर्मदा-स्मृति, आजाद लेन, चौधरी टोला, पटना-800006, फोन (मो.) 09631952649

कहानी की समकालीन चुनौतियां

राजेंद्र दानी

कहानी आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय तो अनेक आलोचक हुए, लेकिन देर तक और दूर तक टिकने वाले आलोचक मुट्ठीभर हैं—डॉ. गोपाल राय, मधुरेश, विजयमोहन सिंह और पुष्पपाल सिंह। युवा कथालोचकों में कृष्णमोहन एवं शंभु गुप्त के नाम लिए जा सकते हैं। यद्यपि इस बीच अनेक कथालोचक बहुत बड़ा और एकदम चटक, जगमगाता चेहरा लेकर प्रकट हुए और अपने कुछ मित्रों, आत्मीयों के लिए और अन्य अनेक सरोकारों के तहत कुछ काम किया और परिदृश्य से ओझल हो गए। यह कहा जाना कठिन है कि उनकी निराशा, निरुत्साह और उदासीनता के पीछे क्या कारण है, जबकि उनका भरपूर स्वागत हुआ। उनके विचारों ने सहमति और विमर्श भी पैदा किए। इस विषम स्थिति में यह विचारणीय है कि क्या इस दौर में कोई कहानी आंदोलन नहीं रहने से ऐसा हुआ? या आंदोलन के लिए विमर्शों की झड़ी लगाने से ऐसा हुआ? क्या विमर्श अपनी जगह बनाने के लिए हुए या समय की सतत् धारा ने उन्हें पैदा किया? समय के न्याय पर तो भरोसा किया जा सकता है, पर धीरज कहां है? अभी-अभी एक साक्षात्कार में वयोवृद्ध विख्यात कहानीकार अमरकांत ने कहा कि बहुत-से नए लेखक हड़बड़ी में हैं।

इन तीन दशकों में परिदृश्य बिल्कुल बदल गया है। रचनाकारों ने कहानी आलोचना के लिए स्वतः भी कोई ईमानदार पहल नहीं की। जो कुछ हुआ, वह नामगिनाऊ और आत्म-प्रक्षेपण और प्रायोजना के तहत हुआ। इसलिए परिदृश्य में स्थायित्व की जगह स्थायी गतिरोध पैदा हो गया। इस गतिरोध में जब आवश्यक हस्तक्षेप की जरूरत पड़ी, तब निष्क्रियता ने जगह बना ली। पिछले दिनों जो कहानीकार पीढ़ी सक्रिय हुई, उनके बारंबार सतही विश्लेषण ने एक ऊब पैदा कर दी और संभवतः यह ऊब दोनों स्तरों पर हुई, जिसके चलते रचनाकार भी शिथिल हुए और चर्चा करने वाले भी। इसका हासिल सिर्फ यह हुआ कि प्रतिष्ठित और वरिष्ठ रचनाकारों ने नए लेखकों और चर्चा करने वाले, दोनों को नकार दिया।

दुर्गति के इस दौर में आलोचना के क्षेत्र में ईमानदारी से काम करते रहना कितना कठिन है, इसका अनुमान सहज लगाया जा सकता है।

शंभु गुप्त की आलोचना की सद्य प्रकाशित किताब 'कहानी : समकालीन चुनौतियां' उपरोक्त परिस्थितियों के प्रतिपक्ष ने खड़ी दिखती है। उनकी यह सक्रियता मनवांछित नहीं है, वहां अन्यत्र नजर आने वाले पूर्वाग्रह भी नहीं हैं। वे आलोचकीय कर्म करते हुए पाठकीय सरोकारों को ज्यादा महत्त्व देते नजर आते हैं। उनका यह कर्म न केवल

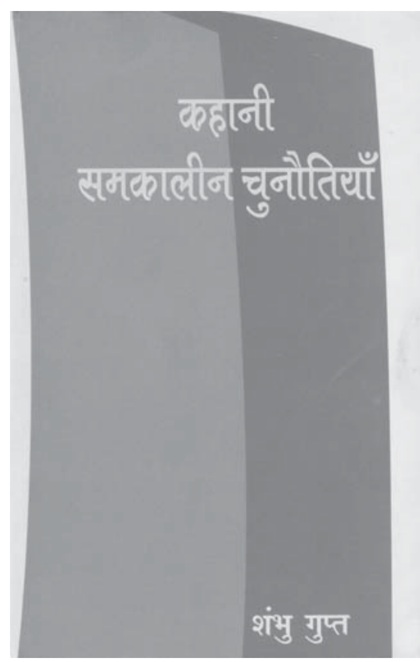

सुचिंतित है, बल्कि योजनाबद्ध भी है, क्योंकि उनका काम सूक्तियों या जुमलों से नहीं चलता, जो कि आम तौर पर समीक्षा कर्म करते हुए रचनाकार नजर आते हैं। वे हमेशा संपूर्णता के प्रयास में रहते हैं। यह प्रयास समय-समय पर उनके द्वारा लिखित आलेखों में स्पष्टतः तब अवलोकित किए जा सकते हैं, जब वे कहानी की पीढ़ियों की एक साथ समग्र पड़ताल कर रहे होते हैं। इसीलिए पुस्तक में समाविष्ट उनके लेख 'कहानी की बदलती प्रक्रिया और प्रविधि : मेरी कहानी मेरे हाथ से निकली' शीर्षक में युवा कहानी पर उन्होंने समग्र विचार प्रकट किया है।''

इस पीढ़ी को तमाम पूर्ववर्ती पीढ़ी के रचनाकारों के नकार के बावजूद और इस समझ के भी चलते कि बहुत सारे हमारे नए लेखक बाजार द्वारा अनुकूलित हैं, शंभु गुप्त इस पीढ़ी पर टिप्पणी करते हैं कि ''यह मौजूदा युवा पीढ़ी काफी संयत और सब्मिसिव है। वह चुपचाप अपना काम किए जाती है और धीरे-धीरे कहानी को एक नई चाल में ढालती जा रही है।'' (पृ. 126)

शंभु गुप्त इस बात को यहां पर किसी निष्कर्ष की तरह नहीं रखते, बल्कि वर्तमान समग्र परिस्थितियों की विवेचना करते हुए अपनी बात के वजन पर लौटते हैं, यह जानते हुए कि समकालीन यथार्थ पूर्ववर्ती यथार्थ से सर्वथा भिन्न है और उसकी जटिलताओं में समाकर सकारात्मक उत्कर्ष के साथ यथेष्ठ मार्गदर्शन में अनेक चुनौतियां हैं। अंततः इन चुनौतियों से निपटने के बाद ही सारगर्भित रचनात्मकता का प्रादुर्भाव संभव है, क्योंकि ''भूमंडलीकरण, मुक्त बाजार इत्यादि के पीछे की विचारधारा ने जो एक विशेष किस्म की विचारहीनता ओर मूल्यहीनता पैदा की है, उसका असर अब हर तरफ दिखाई देने लगा है। हद तो यह हुई कि वैचारिकता और मूल्यनिष्ठा जिन लोगों की पहचान थी और प्रतिरोध के लिए जो जाने जाते थे, वे भी इस बाढ़ में बहते देखे गए और भारी विचलन का शिकार हुए।'' (वही)

यहां यह स्पष्ट होता है कि पूर्ववर्ती समय के मूल्यों का विलोपन हो चुका है और दृश्य में इतनी चकाचौंध है कि दृष्टि के आगे इसी चकाचौंध ने अंधियारा कर दिया है। यह अंधेरा ही नए समय की सबसे बड़ी चुनौती है और इसी को भेदने का लक्ष्य बनाकर चलने वाली रचनाशीलता से हम कुछ की आशा कर सकते हैं। यह विचार इसलिए असंगत नहीं हो सकता, क्योंकि आप नई रचनाशीलता का कोई भी उदाहरण उठाकर देख सकते हैं। आज रचना, विशेषकर कहानी, न जाने क्यों संवेदना के मर्म तक नहीं पहुंचती, बल्कि नए यथार्थ के समानांतर एक ऐसी रचनाशीलता का आग्रह करती है, जो एक सनसनीखेज अमूर्तन या आकर्षण चमत्कार प्रतीत होने लगता है। अंततः इस धारा में बहते चले जाने से कौन-सी राह खुलेगी, कहा जाना बेहद मुश्किल है। इस वास्तविकता को समझ लेने की जरूरत है कि कहानी समय के सच को उपन्यास की तरह विवरणात्मक इतिहास के रूप में नहीं, बल्कि सूक्ष्म संवेदना के साथ सार्थक संश्लिष्ट रूप में बदल देती है, इसलिए कहानी में एक अनिवार्य कौशल की जरूरत होती है। इसी कौशल को अर्जित करने के रास्ते में अनेक दोराहे मिलते हैं। तब किंकर्तव्यविमूढ़ता रचनाकार को जकड़ने दौड़ी चली आती है। यहीं से रचना का बाजार से अनुकूलन हो जाने की तमाम संभावनाएं सिर उठाने लगती हैं।

यही सब जानते-समझते हुए शंभु गुप्त प्रतिपादित कर पाते हैं कि ''अब लेखक चाहते हुए भी तटस्थ नहीं रह सकता, और रहेगा तो समय उसे किनारे कर देगा।'' (वही, पृ. 128)। वे अपने विश्लेषणों से यह सिद्ध करते हैं कि ''लेखक अपने समकाल के यथार्थ के प्रति अत्यंत सचेत है और उसे ट्रीट करते हुए उसका ध्यान इस देश के बृहत्तर जन-समुदाय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि, सभी किस्म की चिंताओं, आकांक्षाओं, अपेक्षाओं आदि पर है।'' (पाठकीय अधिगम में कहानी का पुनः प्रारंभ, पृ. 22)

इस तरह के गंभीर निष्कर्ष निकालने के लिए वर्तमान रचनारत समग्र सीढ़ी पर सरसरी नहीं, गहरी दृष्टि डालना अनिवार्य है। यह अनिवार्यता श्रमसाध्य है, क्योंकि वर्तमान पीढ़ी का देय विपुल है। यहां उदाहरणों से काम नहीं चल सकता। बहुआयामी और जटिल यथार्थ विचारों में नई सरणियां जोड़ने का आग्रह भी करता है। यह काम प्रतिभा संपन्न और सतर्क, सतत अध्ययनशील आलोचक का है। इस बात का भरोसा एक नहीं, अनेक बार शंभु गुप्त अपनी लेखनी से दिलाते रहते हैं। इसीलिए परंपरा के निर्वाह के साथ उसमें अपनी स्थापनाएं भी जोड़ते हैं। यह पूर्ववर्ती आलोचना की तर्क पद्धति के साथ सार्थक मुठभेड़ के साथ ही संभव हो सकता है।

समकालीनता पर विचार करते हुए वे लिखते हैं, ''समकालीनता स्थायी होते हुए भी एक गतिशील मूल्य है। अग्रगामिता समकालीनलता में अंतर्निहित है। समकालीनता एक व्यापक अवधारणा है, जिसे किसी मतवाद-विशेष के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। किसी मतवाद विशेष के साथ सन्नद्ध होते ही समकालीनता एक रूढ़ि बन जाती है तथा यथास्थितिवाद पश्चगामी। वर्तमान इन दोनों में है, किंतु उसे देखने का नजरिया एकदम भिन्न और परस्पर उल्टा है। (कहानी की समकालीनता और समकालीन कहानी अर्थात् कहानी के पाठक, पृ. 53)

इस तरह यह कहा जाना सर्वथा अनुचित है कि कहानी आलोचना सिर्फ कहानी का साथ निभा रही है। दरअसल यहां से आलोचना के दायित्वबोध पर प्रश्नचिह्न लगना शुरू होते हैं। आमतौर पर वर्तमान में सक्रिय कहानी समीक्षकों को इन प्रश्नों से मुठभेड़ की या तो फुर्सत नहीं है या वे इसे तरजीह नहीं देना चाहते और पूर्व परिचित, पूर्व प्रशंसित रचनाकारों का सतही विश्लेषण कर अपने दायित्वों से पीछा छुड़ाने को आतुर हैं। इन सक्रियताओं में साहित्येत्तर लाभ-हानि का वह दबाव है, जो भूमंडलीकरण और बाजारीकरण के सार्वभौमिक होते जाते सरोकारों से अनिवार्यतः जुड़ता है।

यह संबंध प्रत्यक्ष उस तरह नहीं दिखता, जिस तरह नंगी आंखों से दूसरी चीजें देखी जा सकती हैं। यहां एक अन्वेषी दृष्टि ही अंततः मददगार हो सकती है। वर्तमान समय रंगों से इतना लबरेज है कि स्याह और सफेद में अंतर करना अत्यंत कठिन होता जा रहा है। इन रंगों से एक ऐसी रचनाशीलता पैदा होती है, जो सच को ढंककर अपना सच खड़ा कर देती है। इसमें एक अत्यंत प्रतिभावान कौशल की दरकार होती है, तब कहीं जाकर झूठ को सच के रूप में स्थापित करने की चमत्कारिक घटना सामने आती है।

शंभु गुप्त इस प्रक्रिया को बेहद व्यंजनात्मक तरीके से किताब में शामिल लेख 'कहानी की संघर्षशील परंपरा की अनवरतता' में कुछ इस ढंग से व्यक्त करते हैं, ''जो कुछ ठोस या एक सच्चाई की तरह

प्रत्यक्ष है, उसे एक अमूर्तन और अदृश्य में बदलना है, उसे अन्यथाकृत करना है और न केवल इतना, बल्कि यह भी कि उसके स्थान पर एक अबूझ और रहस्यमय किस्म का गढ़ा हुआ यथार्थ प्रतिष्ठापित करना है। इस गढ़े हुए यथार्थ की प्रतिष्ठापना इतने मासूम ढंग से की जाती है, आप अश-अश कर उठते हैं और कहने लगें कि वाह कहानी हो तो ऐसी! लेकिन हम जानते हैं कि ऐसी रचनाएं सेमल के फूल और गूलर के फल की तरह अंतर्दृष्टिहीन होती हैं, जिसे ढंके रखने के लिए विभिन्न प्रसाधन सामग्री इस्तेमाल में लाई जाती है। इस तरह की प्रसाधित रचनाओं का एक बड़ा उद्देश्य यह होता है कि एक विचारहीनता और वैचारिक विभ्रम जैसी स्थिति पैदा हो और समय तिरोहित हो ले। समय को या तो आप पहचानें ही नहीं, और अगर पहचानें तो इस रूप में कि वह स्व-पर-वय-लिंग-निरपेक्ष हो और फिर आप ऐसे चिरंतन और शाश्वत आनंद में डूब जाएं कि जहां केवल आप हों और आपके सिवाय कोई दूजा न हो।'' (पृ. 135)

ऊपर विश्लेषित रचना प्रक्रिया अंततः रचनाकार को समय और समाज से विरत कर देती है। इस तथाकथित एकांतिक सुख की प्राप्ति के बाद रचनाकार इतना आत्ममोहग्रस्त हो जाता है कि उसकी मनोवृत्ति में एक अधिनायकवाद पैदा होने लगता है और यह बताने की जरूरत नहीं कि इस तरह के मार्ग का क्या हश्र होता है।

कहना न होगा कि इस समीक्षा में शंभु गुप्त की आलोचना को सिर्फ समझने का प्रयास किया गया है, उनके इस कार्य के लिए जितने विवेक और ठहरकर लिखने की क्षमता की जरूरत है, वह यहां अनुपस्थित है। उम्मीद की जा सकती है कि वह काम आगे होगा ही होगा, क्योंकि आलोचना के क्षेत्र में वे अपना काम धीरज से किए जा रहे हैं और मानते हैं कि ''आलोचना को रचना के समक्ष एक विनम्र और उत्साही पाठक के रूप में प्रस्तुत होना चाहिए। रचना जो व जैसी है, उसे उस रूप में स्वीकार करते हुए आगे बढ़ा जाए।''

कहानी : समकालीन चुनौतियां/शंभु गुप्त/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 350

15, कंजी बोस नगर, जबलपुर-482003 मो. 08989829520/09893881396

आलोचना और रचना की उलझनें

दिनेश कुमार

हिंदी में साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। मार्क्सवादी आलोचना के भीतर ही रचना के समाजशास्त्रीय आयामों को जांचने-परखने की कोशिशें हुई है, यानी हिंदी में अभी तक एक तरह से मार्क्सवादी आलोचना ही समाजशास्त्री आलोचना रही है, लेकिन जैसे-जैसे हिंदी में अस्मिता आधारित लेखन का जोर बढ़ता गया, वैसे-वैसे इस नई रचनाशीलता को संपूर्णता में विश्लेषित और रेखांकित करने के संदर्भ में मार्क्सवादी आलोचना की सीमाएं भी उजागर होती गईं। ऐसे में यह बहुत आवश्यक था कि स्त्री, दलित, पिछड़े, अल्पसंख्यक, आदिवासी आदि वर्गों के रचनात्मक उभार और उनकी रचनाशीलता को उसके पूरे सामाजिक और साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए एक स्वस्थ समाजशास्त्रीय आलोचना को विकसित किया जाए, पर दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ और हिंदी में समाजशास्त्रीय आलोचना की दिशा में आगे बढ़ने की जगह 'विमर्श' का नारा उछाल दिया गया। देखते-देखते 'विमर्श' ने आलोचना को विस्थापित कर दिया और आज हम इस स्थिति में पहुंच गए हैं कि अब आलोचना लगभग असंभव हो गई है। दुखद यह है कि साहित्य और समाज दोनों को काफी गहराई से समझने वाले प्रखर विचारक मुद्राराक्षस आलोचना की जगह विमर्श को ही तरजीह देते हैं।

वे दलित, स्त्री और सांप्रदायिकता के मसलों को लेकर अपने विशद् अध्ययन और साक्ष्यों के आधार पर उग्र व्याख्या करते रहे हैं। पश्चिमी और भारतीय ज्ञान परंपरा का व्यापक अध्ययन एवं एक तीक्ष्ण वैचारिक दृष्टि होने के कारण, उनसे यह अपेक्षा स्वाभाविक थी कि वे हिंदी के रचना-संसार के इतिहास में बुनियादी परिवर्तन लाने वाली नई रचनात्मक शक्तियों और उनकी रचनाशीलता का मूल्यांकन करने के लिए तथाकथित 'सवर्ण' एवं 'हिंदू' आलोचना सैद्धांतिकी और प्रतिमानों के बरक्स एक 'बहुजन' या 'बहुसंख्यक' आलोचना सैद्धांतिकी को सामने लाएं, लेकिन ऐसा लगता है कि वे अपनी इस सार्थक भूमिका से चूक गए हैं। 'आलोचना और रचना की उलझनें' नामक इस पुस्तक में वैचारिक धार तो है, लेकिन सामान्यीकरण के द्वारा सरलीकृत निष्कर्ष निकालने की उनकी प्रवृत्ति के कारण यह वैचारिक धार विकल्प तलाशने की जगह मात्र आरोप लगाने या आक्रोश की अभिव्यक्ति में ही खत्म हो जाती है।

मुद्राराक्षस के चिंतन में एक गहरा अंतर्विरोध दिखाई देता है। एक तरफ साहित्य की वस्तुनिष्ठ समझ रखने वाले मुद्राराक्षस हैं तो दूसरी तरफ अतार्किकता की हद तक अस्मिता आधारित लेखन की वकालत करने वाले विचारक मुद्राराक्षस हैं। समस्या यह है कि वे अपने इन दो व्यक्तित्वों के बीच के द्वंद्व को पाट नहीं पाए हैं। यही कारण है कि उनके निबंधों से साहित्य संबंधी कोई स्पष्ट मानदंड नहीं उभरता, जो कि आलोचना की बुनियादी शर्त है। वैसे तो, इस संदर्भ में उदाहरण के लिए उनके कई निबंधों को सामने रखा जा सकता है, पर यहां पुस्तक में शामिल पहले ही निबंध की चर्चा पर्याप्त होगी। इस निबंध का शीर्षक है—'हिंदी आलोचना : सिद्धांतों की मृत्यु के बाद'। इस निबंध में लेखक का मंतव्य स्पष्ट नहीं हो पाता। कहीं वे व्यावहारिक आलोचना को दूसरे दर्जे की आलोचना मानकर सैद्धांतिक आलोचना की जरूरत पर बल देते हैं तो कहीं वे सैद्धांतिक आलोचना के देहावसान को जरूरी भी मानते प्रतीत होते हैं, क्योंकि इस आलोचना का स्त्री और दलित प्रश्न से कोई सरोकार नहीं रहा है। शायद यह हो सकता है कि मुद्राराक्षस यह कहना चाह रहे हों कि इन नवीन प्रश्नों के आलोक में आलोचना की कोई सैद्धांतिकी विकसित नहीं हुई, लेकिन सवाल यह है कि क्या ऐसा न हो पाने के लिए विमर्श की वैचारिकी जिम्मेवार नहीं है, जिसके प्रबल पक्षधर वे स्वयं है? विमर्श और सैद्धांतिक आलोचना दोनों एक साथ कैसे संभव हैं? हमें यह समझना चाहिए कि कोई भी सैद्धांतिक आलोचना एक मानदंड का निर्धारण करती है। दलित व स्त्री प्रश्न को केंद्र में रखकर अगर कोई आलोचना की सैद्धांतिकी विकसित करता है तो उसे भी कुछ प्रतिमान निर्मित करने होंगे, जिसके आधार पर दलित या स्त्री रचनाशीलता को परखा जा सके, यानी इस नई आलोचना को भी अपने प्रतिमानों के आधार पर मूल्य निर्णय देना पड़ेगा कि इनकी रचनाओं में कौन बेहतर है और कौन कमतर? लेकिन विमर्श के पैरोकारों को यह स्थिति स्वीकार नहीं होगी, क्योंकि आलोचना की सैद्धांतिकी विकसित हो जाने के बाद अभी जो विमर्श के नाम

पर कुछ भी लिखने और उसका साहित्य के रूप में स्वीकृत हो जाने का जो सुरक्षा कवच उपलब्ध है, वह टूट जाएगा। यही कारण है कि कोई भी अस्मितामूलक लेखन आलोचना प्रतिमानों से दूर भागता है और इस दिशा में स्वयं कोई पहल नहीं करना चाहता। अगर दूसरे करें, तो वह उसके विरोध में खड़ा हो जाता है। इसलिए, मुद्राराक्षस एक ही साथ और एक ही समय में सैद्धांतिक आलोचना की मृत्यु की शिकायत और विमर्श की वैचारिकी की घनघोर वकालत दोनों नहीं कर सकते हैं। इसी तरह, एक तरफ अखिलेश की 'पेटहगना', शशांक की 'अतिशयक्षेत्र' उदयप्रकाश की 'तिरिछ' जैसी कहानियों को कहानी का नया इतिहास बनाने वाली कृतियां मानना और दूसरी तरफ, जाति के आधार पर लेखकों के साहित्य को सवर्ण साहित्य मानकर खारिज करना और इसी आधार पर उनका मूल्यांकन करना और निष्कर्ष निकालना; दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते।

मुद्राराक्षस इस बात की जोरदार वकालत करते हैं कि दलित अंतर्चेतना को दलित ही समझ सकता है और इसलिए दलितों पर दलित ही लिख सकता है। वे यह भी मानते हैं कि सवर्ण लेखकों द्वारा दलित पात्रों और उनकी जीवन स्थितियों को केंद्र में रखकर जो भी कुछ लिखा गया है, वह समस्त साहित्य दलितों के प्रति सच्चे सरोकार का परिचायक न होकर सतही सहानुभूति का परिचायक मात्र है। अपनी इस समझ के पक्ष में तर्कों और कुतर्कों की एक लंबी शृंखला खड़ी करते हैं। कई बार तो ऐसा लगता है कि वे अपनी बात को अधिक धारदार और आक्रामक बनाने के लिए 'कुछ भी' कह सकते हैं। इस तरह के तर्कों-कुतर्कों को उनके 'सवर्ण साहित्य और दलित प्रश्न', 'सहानुभूति, स्वानुभूति और दलित', 'साहित्य की संस्कृति में दलित पक्ष' जैसे निबंधों में देखा जा सकता है। वे लिखते हैं, ''दरअसल, लेखक, विशेषकर अच्छा लेखक अपने परिचय की दुनिया पर नहीं लिखता। वह उस दुनिया पर लिखता है, जिससे उसका सरोकार है। परिचय और सरोकार दो अलग चीजें हैं। यही वजह है कि पूरे वैचारिक लगाव के बावजूद यांत्रिक जनवादी का मजदूर-किसान संबंधी लेखन उथला और छिछला हाता है। बहुत ईमानदार सहानुभूति भी सरोकार नहीं होती।''

उनके अनुसार किसी लेखक का सरोकार किससे है, इसका पता इस बात से चलता है कि उसकी मुख्य रचना भूमि किससे संबंधित है। इस आधार पर वे मानते हैं कि ''चतुरी चमार, कुल्ली भाट, महंगू रहा जैसी रचनाएं निराला की मुख्य भूमि नहीं हैं। उनकी मुख्य भूमि है हिंदू मिथकों वाली वह दुनिया, जिसमें राम हैं, तुलसीदास हैं, देवी-देवता और सवर्ण इतिहास पुरुष हैं। प्रेमचंद के समूचे लेखन का एक छोटा हिस्सा छोड़कर अधिकांश के केंद्र में सवर्ण समाज ही है, गोकि पूरे देश में सवर्णों का अनुपात तेरह का है, सतासी फीसदी दलित पिछड़ों की तुलना में। हिंदी में निर्मल वर्मा, मनोहरश्याम जोशी, श्रीलाल शुक्ल जैसे रचनाकारों का समूचा लेखन इसी तेरह फीसदी सवर्ण समाज में सीमित है। अमृतलाल नागर ने भंगी समाज पर जरूर लिखा, पर उसकी केंद्रीय पात्र एक ब्राह्मणी है।'' पता नहीं यह सूची यहीं क्यों रोक दी गई, क्योंकि शायद ही कोई लेखक इस कसौटी पर खरा उतरे। वैसे यह और अच्छा होता, अगर मुद्राराक्षस उस तथाकथित सतासी फीसदी के भीतर शामिल गैर-दलित पिछड़े वर्ग के लेखकों की मुख्य कथा-भूमि का भी विश्लेषण करते। कम-से-कम राजेंद्र यादव की भी कथा-भूमि का विश्लेषण करते, जिन्होंने किसी दलित को अपनी कहानी का पात्र नहीं बनाया और इस आधार पर प्रेमचंद, निराला आदि की तुलना में उन्हें कहीं अधिक दलित विरोधी और दलितों के प्रति न्यूनतम सरोकार तो छोड़िए, सहानुभूति भी न रखने वाला साबित करते, लेकिन मुद्राराक्षस ऐसा नहीं करते।

दरअसल, समस्या अधिक जटिल है

और इसे गहराई से समझने की जरूरत है। अच्छी रचना न तो सिर्फ परिचय (सहानुभूति) से लिखी जा सकती है और न ही सरोकार या स्वानुभूति से। सबसे जरूरी चीज है कि आप उस सहानुभूति या सरोकार को रचनात्मकता में कितना ढाल पाते हैं, यानी अपने सहानुभूति या स्वानुभूति से प्राप्त अनुभव और ज्ञान को रचना के रूप में बदल पाने की सामर्थ्य ही मूल चीज है। इसीलिए यह माना जाता है कि साहित्य यथार्थ नहीं, बल्कि यथार्थ की पुनर्रचना होती है। सवाल सहानुभूति या स्वानुभूति का न होकर साहित्य का है। दोनों आधारों पर अच्छा या घटिया साहित्य लिखा जा सकता है।

यहां एक और बात की चर्चा आवश्यक है, वह यह कि साहित्य के संदर्भ में यह तेरह और सतासी फीसदी का विभाजन बेतुका है। यह बेतुका इसलिए है, क्योंकि विभाजन का कोई एक सर्वमान्य आधार नहीं हो सकता। अगर मुद्राराक्षस यह कहते हैं कि प्रेमचंद का अधिकांश साहित्य तेरह फीसदी सवर्णों से संबंधित है, तो दूसरे आधार पर विभाजन करके यह भी कहा जा सकता है कि प्रेमचंद का अधिकांश साहित्य गरीबों और किसानों से संबंधित है, जो पंचानवे फीसदी है। समाज का अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष सवर्ण-दलित, गांव-शहर, अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक आदि कई तरह से विभाजन हो सकता है। सबका विभाजन अपनी-अपनी दृष्टि से सही भी है। यह सवाल पेचीदा है कि किस विभाजन को स्वीकार किया जाए, क्योंकि एक आधार पर दूसरा विभाजन खारिज हो जाता है। अगर कोई संपूर्णता में साहित्य को देखते हुए सबको अपनी रचना में जगह दे तो उससे सब नाराज हो जाते हैं। यही स्थिति बेचारे प्रेमचंद की हुई है। गनीमत यही है कि इस देश में आम पाठकों का साहित्यिक विवेक आज भी जाग्रत है और वह इन बातों में न पड़कर उस साहित्य को मान्यता देता है, जो उसकी संवेदना को गहराई तक छू पाता है। इस संदर्भ में दूसरी बड़ी बात है कि साहित्य के लिए यह मानदंड ही गलत है कि कितने प्रतिशत लोग उसके दायरे में आते हैं।

मुद्राराक्षस अपने व्यापक विश्लेषण के बाद जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, उससे

आश्चर्य होता है। 'समाज, स्त्री और साहित्य' नामक निबंध में वे भारत और पश्चिम दोनों के व्यापक संदर्भ में स्त्री की स्थिति और आंदोलनों का विवेचन करते हुए अंत में लिखते हैं, ''निजी तौर पर मैं यह जरूर महसूस करता हूं कि इस जटिल स्थिति से मुक्ति का एक कारगर तरीका परिवार नाम की संस्था का संपूर्ण विध्वंस हो सकता है, क्योंकि पुरुष की जान का तोता वहीं रहता है। परिवार टूटने पर ही पुरुष के वर्चस्व का तिलिस्म भी ढहता है और स्त्री को वास्तविक आजादी भी मिल सकती है। परिवार टूटने का मतलब विवाह की परंपरा टूटना भी है। विवाह का दूसरा तिलिस्म है, जो अंततः स्त्री को नीचे लेटने पर मजबूर करता है और वह भी पीठ के बल। विवाह स्त्री को मानव-इतिहास में चित कर देता है। स्त्री की आजादी के लिए एक तीसरा तिलिस्म भी टूटना चाहिए—स्त्री-पुरुष रतिक्रिया का तिलिस्म।'' अब यहां दो सवाल उठते हैं। पहला यह कि क्या मुद्राराक्षस इस बात को नहीं समझते हैं कि समाज में जब तक निजी संपत्ति का अस्तित्व रहेगा, तब तक परिवार और विवाह नामक संस्था का अस्तित्व भी रहेगा? 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में एंगेल्स ने इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया है। उससे कम-से-कम सैद्धांतिक रूप से असहमत होने का कोई ठोस कारण नजर नहीं आता। इसलिए उन्हें बुनियादी प्रश्न उठाना चाहिए, क्योंकि जब तक निजी संपत्ति है, तब तक कोई तिलिस्म नहीं टूटने वाला। दूसरा सवाल यह है कि अगर निजी संपत्ति और पूंजीवाद के दायरे में ही इस प्रश्न पर विचार करना है तो क्या परिवार, विवाह और रतिक्रिया की जरूरत सिर्फ पुरुष को ही होती है या यह स्त्री के लिए भी उतना ही सच है? अगर यह स्त्री के लिए भी सच है तो समलैंगिकता कभी भी बहुसंख्यक स्त्रियों के अनुकूल नहीं हो सकती, जिसकी वकालत मुद्राराक्षस करते हैं। हां, कुछ स्त्रियों की रुचि इसमें हो सकती है और उनकी इस रुचि से कोई परेशानी भी नहीं होनी चाहिए। अतः दोनों ही स्थितियों में मुद्राराक्षस के विचार उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। वस्तुतः आज आवश्यकता इस बात की है कि परिवार और विवाह संस्था के भीतर असमानता और अन्याय को खत्म किया जाए। स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे का अनिवार्यतः विरोधी मानते हुए समाज का स्त्री-पुरुष के बीच विभाजन अवैज्ञानिक है। स्त्री-पुरुष के बीच समानता की वकालत करनी चाहिए, उनकी भिन्नता को खत्म करने की नहीं।

खैर, जो भी हो, मुद्राराक्षस के विचारों से सहमति और असहमति अपनी जगह है, किंतु उनके जैसे चिंतनशील व्यक्ति से हम इतनी उम्मीद तो कर ही सकते हैं कि वे अपनी बातों को एक परिप्रेक्ष्य में रखें। यहां उनके विचारों में एकसूत्रता कम बिखराव अधिक दिखाई देता है। इसका एक बड़ा कारण मुझे यह लगता है, उनकी वैचारिक क्रांतिकारिता को उनका यथार्थ अनुभव बहुत दूर तक पुष्ट नहीं कर पाता है। यह स्थिति साहित्य और समाज दोनों के मामले में है। वे अगर 'धर्मग्रंथों के पुनर्पाठ' की तरह ही साहित्य का पुनर्पाठ करते हुए एक मुकम्मल पुस्तक लिखें तो वह अधिक उपयोगी होगी और साहित्य की दुनिया में एक सार्थक हस्तक्षेप भी।

आलोचना और रचना की उलझनें/मुद्राराक्षस/विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी, वाराणसी-221001/मूल्य : ₹ 150

द्वारा आर सैलजा, फ्लैट नं. 4 (अपर ग्राउंड फ्लोर), एस-21, खिड़की एक्सटेंशन, मालवीय नगर,नई दिल्ली-110017, मो. 9013699157

त्रांदाइम में ट्राम

राजेंद्र उपाध्याय

'त्रांदाइम में ट्राम' कवि, कथाकार, पत्रकार, यायावर प्रयाग शुक्ल की यात्रा टिप्पणियों का संग्रह है। इसमें प्रचलित ढंग के यात्रा वृतांत नहीं हैं। इनमें कविता भी है, कहानी भी और सामाजिक, सांस्कृतिक टिप्पणियां भी। यात्रा के दौरान थोड़ा ठहरकर वे उस भूभाग को पाठक के सामने साकार कर देते हैं। 'त्रांदाइम (नार्वे) में ट्राम' में वे पाठक को एक तरह से बैठा ही देते हैं और कल्पना में वो धरती का कोना मानो जीवंत हो उठता है। इनमें भोपाल और दिल्ली की ज्यादा टिप्पणियां हो सकती हैं, पर कालिकट भी है, मुंबई भी है, संतोषपुर भी है और दिल्ली भी है। कोयल है, तो चंबल के घड़ियाल भी हैं। तितली, कोयल, पंछियों के स्वभाव, आदतें तो वे जानते ही हैं, पेड़-पौधे, नीम, पीपल आदि के बारे में भी वे खूब जानते हैं। हर जगह उनकी निगाह चौकस रहती है। जो लोग उन्हें निरा प्रकृति प्रेमी, तितली, फूल, कोयल का कवि मानकर खारिज करते हैं, उन्हें ये टिप्पणियां जरूर पढ़नी चाहिए। इसमें उनकी जनचेतना मुखर हुई है। प्रयाग जी जन के जितने निकट गए हैं, उतने तो तथाकथित जनवादी भी नहीं गए हैं। इस 'महादेश' का कोना-कोना उन्होंने कष्ट उठाकर छाना है और हिंदी साहित्य में उनकी पदचाप सुनाई है। 'आगरा बाजार में बैंडबाजे' वाले लड़के की चीकट बनियान पर भी उनकी जनवादी नजर गई है। इसमें उनकी कलावादी नजर अगर ज्यादा मुखर हुई है तो उससे किसी को परहेज नहीं करना चाहिए। आखिर सुरुचि भी एक तरह का कलात्मक उद्यम ही है और वह तो सुरुचि संपन्न लेखक में होनी ही चाहिए।

किसी-न-किसी यात्रा के प्रसंग से लिखी गई प्रयाग शुक्ल की ये टिप्पणियां कभी हमें समुद्र और नदी तटों की ओर ले जाती हैं, तो कभी नगरों और गांवों की ओर। वे कभी देश-विदेश के मनोरम स्थलों और अभयारण्यों की सैर कराते हैं। इस प्रक्रिया में वे ऐसा बहुत कुछ देखते, बताते रहते हैं, जो हमसे प्रायःओझल रहता है। लेखक हमसे बतियाते-बतियाते कई तरह की बातें बताते हैं। वनस्पतियां और पशु-पक्षियों की अनेक गतिविधियां हमसे अपरिचित रहते हुए भी परिचित हो जाती हैं। हम सहसा चौंककर पहचानते हैं कि दैनिक जीवन और दिनचर्या के तार वास्तव में न जाने कितनी अच्छी और विशिष्ट चीजों से जुड़े हुए हैं और हमारे सामाजिक जीवन का वितान सचमुच कितना व्यापक और विस्तृत है। राष्ट्र केवल उसमें रहने वाले लोगों से ही नहीं बनता है, उसमें प्रकृति, फूल, पेड़-पौधों, पहाड़ों और नदियों का भी उतना ही बड़ा योगदान होता है।

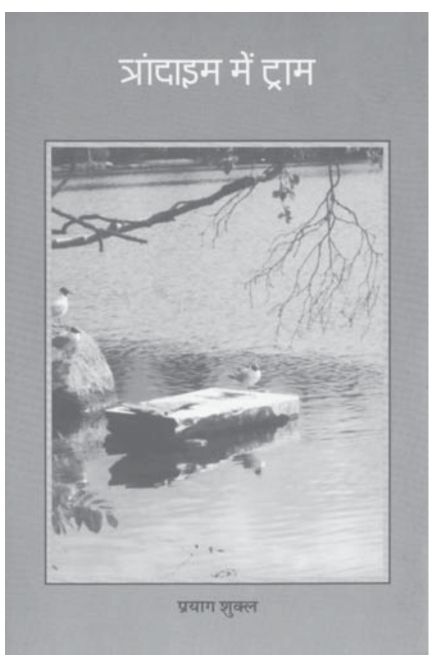

मामूली समझी जाने वाली चीजें भी इन यात्रा-वृतांतों में आकर एक नया अर्थ, नया रूप और नया मर्म ग्रहण कर लेती हैं। इनमें डायरी और संस्मरणों का भी एक अनोखा स्वाद है और इनके गद्य की लय हमारे मन को कई तरह से झकझोरकर रख देती है। कला समीक्षक के नाते चित्रकला से प्रयाग शुक्ल का गहरा लगाव भी इन टिप्पणियों में समय-समय पर मुखरित होता है। लगता है कि वे शब्दों के माध्यम से किसी दृश्य के रंग रेखारूपों को उभार रहे हैं और इन टिप्पणियों को पढ़ते-पढ़ते हम किसी प्राकृतिक दृश्य को देखने में खो जाते हैं। हम सहसा उस जगह पहुंच जाते हैं। 'त्रांदाइम में ट्राम' ऐसी ही टिप्पणी है, जिसमें हम नार्वे के इस छोटे शहर त्रांदाइम में पहुंच जाते हैं और मानो त्रांदाइम में ट्राम में सवार हो जाते हैं। लेखक लिखते हैं, ''ट्राम जैसे ही शहर की ऊंचाई पर जाती है, पूरा शहर एक फूल की तरह खिल उठता है। दूर-दूर तक पहाड़ियों पर छितरे मकान, नीचे के मैदानी हिस्सों के भी एकदम से आंखों के आगे आ जाते हैं।'' पूरी किताब ऐसे अनेक प्रकृति चित्रों से भरी है।

त्रांदाइम में ट्राम/प्रयाग शुक्ल/सूर्यप्रकाशन मंदिर, नेहरू मार्ग, दाऊजी रोड, बीकानेर/मूल्य : ₹ 250

बी-108, पंडारा रोड, नई दिल्ली-110003, मो. 9953320721

फिलस्तीनियों पर बढ़ती हुई इस्राइली हिंसा

अरशी खान

फिलस्तीन की समस्या एक अंतरराष्ट्रीय, राजनीतिक, नैतिक एवं मानवीय समस्या है, जिसका समाधान विश्व-स्तर पर अब तक नहीं किया जा सका है। फिलस्तीन से संबंधित केवल 1955-1992 के दौरान संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा पारित किए गए 65 प्रस्तावों में इस्राइल को दोषी घोषित किया गया। यह भी सत्य है कि 1947 से लेकर अब तक इस्राइल ने 150 से अधिक संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों का उल्लंघन किया।

यह आश्चर्य की बात नहीं, बल्कि एक अफसोस और शोक मनाने के काबिल है, क्योंकि इन प्रस्तावों के निरंतर उल्लंघन से संयुक्त राष्ट्र संघ एवं सुरक्षा परिषद् को पूर्ण रूप से विफल समझा जा सकता है और इस विफलता का मुख्य कारण इस्राइल की बढ़ती हुई उग्र प्रवृत्ति को न रोकने की राजनीति और संयुक्त राज्य अमरीका की इस्राइल के लिए निरंतर सहानुभूति और यूरोपियन संघ के द्वारा इस्राइल पर चुप्पी साधने की राजनीति है। किसी भी उग्रवादी के साथ किसी भी प्रकार की सहानुभूति या प्रेम विचार उग्रवाद को न केवल बढ़ावा देता है, बल्कि उग्र मानसिकता को राजनीतिक स्तर पर शक्ति प्रदान करता है। विभिन्न देशों में उग्रवाद ने जन्म लिया है। भारत भी इससे पीड़ित है और पहले भी उग्रवाद से पीड़ित रहा है, लेकिन लगभग सभी देशों में उग्रवाद कुछ समय के पश्चात् समाप्त कर दिया गया या इसमें कमी आई, लेकिन फिलस्तीनियों के विरुद्ध उग्रवाद 1920 के बाद से ही प्रारंभ हो गया और इस उग्रवाद का स्वरूप 1948 में काफी बढ़ गया और निरंतर फिलस्तीनियों के विरुद्ध उग्रवाद में जटिलता, फैलाव और बढ़ने ही का अनुभव होता है।

फिलस्तीन में इस्राइली उग्रवाद के कारण न केवल हत्याएं की जाती हैं, बल्कि पीड़ित लोगों की संपत्ति, घर-मकान, नौकरी, घूमने-टहलने की आजादी, स्वाभिमान और व्यक्तिगत सम्मान भी छीना जाता है। आजकल अमरीका के राष्ट्रपति और वहां के सरकारी लोग अरब देशों में प्रजातंत्र, स्वतंत्रता, न्याय, मानव अधिकार और शांति का नारा दे रहे हैं और इसी नीति के द्वारा इन देशों में शासकों को उन नए और लचीले शासकों से बदल रहे हैं, जो अमरीका के लिए अधिक लाभदायक होंगे और अरब देशों में प्रजातांत्रिक निरंकुशता का नया दौर प्रारंभ होगा, जिससे इनमें नए-नए प्रकार की समस्याएं जन्म लेंगी। जैसे अलगाववाद, उग्रवादी संगठनों का स्थापित होना, केंद्रीय सरकारों का कमजोर होना और पड़ोसी देशों से टकराव की राजनीति करना इत्यादि। इन सभी समस्याओं में अमरीकी हस्तक्षेप, प्रयत्न, प्रेरणा, पूंजी का भरपूर इस्तेमाल होगा। उदाहरण बहुत सारे हैं। लीबिया के

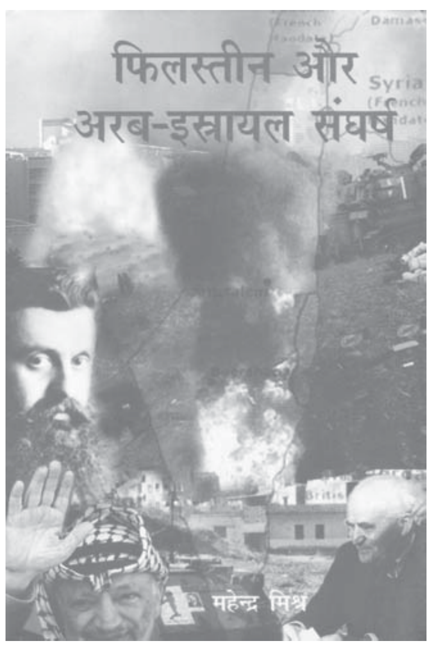

पूर्वी भाग में अमरीका और इसके समर्थकों ने अलकायदा प्रवृत्ति को बढ़ाया दिया और इन उग्रवादियों के माध्यम से लीबिया में मनचाही राजनीति के स्वरूप निर्माण का प्रयत्न भी किया। इसी प्रकार इन्हीं शक्तियों ने सोवियत विरोधी राजनीति के अंतर्गत पाकिस्तान की भूमि और सरकार का दुरुपयोग करके कश्मीर में भी उग्रवाद को जन्म दिया। इसी प्रकार 1991 से ही इराक के उत्तर में कुर्द समाज को अलगाववाद के लिए प्रेरित करके और वहां कुछ कुर्दों को प्रशिक्षण और सहायता उपलब्ध कराकर इराक की केंद्रीय सरकार, ईरान और तुर्की सरकारों के विरुद्ध षड्यंत्र की राजनीति की जाती है। इसी प्रकार इस समय ईरान के भीतर वहां के अल्पसंख्यक समुदायों—कुर्द, बलोच, अहजावी, अरब एवं आजेरी में उग्रवाद और अलगाववाद भावनाओं से प्रेरित नौजवानों को हर प्रकार से प्रशिक्षण, प्राथमिकता और प्रलोभन दिया जा रहा है ताकि आंतरिक रूप से ईरान से बलवान न बन सके।

इसी प्रकार का षड्यंत्र सीरिया के अंदर और बाहर किया जा रहा है, ताकि अमरीकी और यूरोपियन हितों का तेल, गैस और यूरेनियम से मालामाल देशों पर पूर्ण रूप से अधिकार जम सके। इस बढ़ते हुए हस्तक्षेप ने खाड़ी देशों में ऐसी मानसिकता और भय को जन्म दिया कि लीबिया और सीरिया के मामले में इन्होंने अमरीका के हित में आम अमरीकी जनता से भी बढ़-चढ़कर भूमिका निभाई।

इन सब राजनीतिक और आर्थिक बदलाव से एक बात मूल रूप से प्रमाणित होती है कि फिलस्तीन समस्या को टाल-मटोलने में और इसे महत्त्वपूर्ण न बनाने में अमरीका और इस्राइल सक्षम दिख रहे हैं। फिलस्तीन के लोग अपने ही देश में इस्राइल के कब्जे में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इनकी 100 प्रतिशत

भूमि घटकर 22 प्रतिशत से भी कम हो गई है और हर प्रकार की शांति वार्ता और अनुभवों के प्रयोग के बाद भी फिलस्तीनियों की समस्या बढ़ती जा रही है। बहुत कुछ खोकर भी इनके अधिकार की वापसी की आशा नहीं दिखती। कहा जाता था कि इस्राइल बल के भय से अधिकार वापस नहीं करेगा, इसलिए इससे शांतिवार्ता करने में ही अधिकार की वापसी मुमकिन है, लेकिन 1988 के बाद और मुख्य रूप से 1991 और 1993 से निरंतर फिलस्तीन शांति वार्ताओं और प्रयासों से इनकी स्थिति और भी गंभीर होती गई है, इसके विरुद्ध इस्राइल के उग्रवाद पर अमरीका की राजनीतिक मुहर गहरी होती जा रही है।

फिलस्तीनियों ने न केवल अपने समय, हित और अधिकारों को खोया है, बल्कि अमरीका, इस्राइल और इनके समर्थकों ने उन सभी देशों की सरकारों, संगठनों को भी बदल दिया है, जहां से संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत फिलस्तीन की स्वतंत्रता और अधिकार की व्याख्या की जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस्राइल ने न केवल कब्जे और मारकाट की भूमिका को प्रमाणित किया है, बल्कि उन शक्तियों को भी तबाह किया है, जो इस्राइल पर राजनीतिक दबाव बनाने में सहयोग प्रदान करती थी।

इस्राइल न केवल फिलस्तीनियों के विरुद्ध अत्याचारों में बढ़ोतरी कर रहा है, बल्कि इनकी 22.5 प्रतिशत भूमि (100 प्रतिशत में से) में भी ऐसी गतिविधियों और कार्यों को बढ़ावा दे रहा है, जिसके कारण स्वतंत्र फिलस्तीन रात्य की स्थापना असंभव हो जाए, अर्थात् जिस देश की बार्डर लाइन की रूपरेखा दूसरे देश के नियंत्रण में हो, उसी तरह सुरक्षा और दूसरी चीजों पर पूरा नियंत्रण न हो तो फिलस्तीन राज्य की स्थापना का क्या अर्थ होगा। ऐसा ही हो रहा है।

इस्राइल को प्रत्येक दिन 82 लाख डालर की सैन्य सहायता प्रदान की जाती है, लेकिन फिलस्तीन को इस रूप में एक डालर भी नहीं मिलता। 2005 में इस्राइल ने गाजा पर भारी बमबारी की और जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया, लेकिन जब इसकी निंदा की बात संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद में उठाई गई तो अमरीका ने इस्राइल का साथ दिया। इसी प्रकार 2008 के दिसंबर महीने में इस्राइल ने दक्षिण लेबनान पर आक्रमण किया, लेकिन इस पर भी अमरीका ने सुरक्षा परिषद में इस्राइल का साथ दिया। जब गत वर्ष सितंबर में फिलस्तीन ने संयुक्त राष्ट्र संघ में राज्य स्तर पर हिस्सेदारी की बात बढ़ाई तो अमरीका ने इसका विरोध किया और यही विरोध यूनेस्को के विरुद्ध भी किया गया, जब गतवर्ष अक्तूबर में इसने फिलस्तीन को राज्य स्वीकार किया।

फिलस्तीन की स्वतंत्रता के पक्ष में बोलने वाले या तो खत्म हो गए या उन्हें हटा दिया गया। 2004 में यासिर अराफात का रहस्यमय निधन हो गया, वह पेरिस के सेना हस्पताल में भर्ती थे। इसके बाद गाजा और पश्चिमी किनारे में सैकड़ों फिलस्तीनी नेताओं और बुद्धिजीवियों को मारा गया। यह अब भी जारी है, इराक की सराकर को बर्बाद किया गया और फिलस्तीनियों के लिए बोलने वाले शासक राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन को फांसी पर लटकाया गया। गद्दाफी भी फिलस्तीन में लोगों के लिए स्वतंत्र देश की स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के अनुसार चाहते थे, लेकिन इन्हें भी उग्रवादियों द्वारा मिटा दिया गया।

इन सभी समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक बहस करने के संदर्भ में महेंद्र मिश्र की पुस्तक—'फिलस्तीन और अरब-इस्राइल संघर्ष' एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पूरी पुस्तक का अध्ययन करने से फिलस्तीन से संबंधित विभिन्न समस्याओं, इतिहास, राजनीति और षड्यंत्रों की भी जानकारी मिलती है।

सत्य तो यह है कि फिलस्तीन समस्याओं की विवेचना एक साधारण अध्ययन नहीं है, इसके लिए एक लंबे अध्ययन और गहरी नजर की आवश्यकता है और इसकी भूमिका महेंद्रजी ने निभाई है। इसका रहस्य केवल यही है कि महेंद्र जी मूल तथ्यों से अवगत हैं और इतिहास पर कई दृष्टिकोण से नजर रखते हैं।

महेंद्र मिश्र ने साम्राज्यवादी विभाजन की नीति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में भी बहस की है, ताकि अरब देशों में पश्चिम के राजनीतिक और आर्थिक हित को समझा जा सके। अरब तानाशाहों का संरक्षक और सहायक अमरीका है और तानाशाहों के माध्यम से अरब जगत की प्रजा का दमन करने में अमरीकी हित शामिल हैं। (पृ. 14)

नोम चोमस्की और एडवर्ड सईद की ही तरह महेंद्र मिश्र ने यह कहा है कि ''इस्राइल पश्चिम के नवसाम्राज्यवाद की चौकी है। वह संयुक्त राष्ट्र संघ की जारज संतान है। उसका निर्माण अस्तंगत पुरातन साम्राज्यवाद की उपलब्धि है और उसका अस्तित्व एवं शक्ति अमरीका के नवसाम्राज्यवाद के संरक्षण में है।'' (पृ. 21) इसी प्रकार महेंद्रजी स्वीकार करते हुए खेद व्यक्त करते हैं कि अरब देशों में एकता नहीं बन पाई और शक्तिशाली संगठन के रूप में नहीं उभर सके। अरब राज्य आपस में ही विरोध का शिकार होते रहे हैं। (पृ. 22) मैंने अपने कई लेखों में यह कहा है और इसी प्रकार इस पुस्तक के लेखक भी कहते हैं कि मिस्र और जार्डन अमरीका के पिट्ठू हैं। मैं यहां पर कुछ और देशों की राजनीतिक पहचान कराना चाहूंगा। महापिट्ठुओं में आज के समय में कतर है, जो अमरीकी और इस्राइली भावनाओं का अंतरात्मा से पालन कर रहा है। इसी प्रकार बहरीन, यूएई, ओमान, सऊदी अरब और कुवैत हैं।

मिश्र 1967 के युद्ध में इस्राइल द्वारा हड़पी गई भूमि के संदर्भ में कहते हैं कि इसने ''न केवल अरब एकता का स्वप्न ही तोड़ा, बल्कि उसने फिलस्तीन की समस्या को ऐसे मुकाम पर लाकर छोड़ दिया, जहां उसका कोई हल आज तक नजर नहीं आता।'' इस्राइल के साथ हर तरह की शांति वार्ताएं छलना साबित हो रही हैं। (पृ. 25-26) यह कहते हैं कि 1971 में पीएलओ का मुख्यालय बेरुत में बनने के बाद अंतरराष्ट्रीय स्तर पर फिलस्तीनी मुक्ति आंदोलन का उदय दुनिया ने स्वीकार किया। (पृ. 26-27) इन्होंने अक्टूबर, 1973 के युद्ध और उसके बाद 1979 के कैंप डेविड समझौते को एक दुखद एवं महत्त्वपूर्ण घटना बताई है। 1974 में अरब लीग सम्मेलन (रबात) में पीएलओ को एकमात्र प्रतिनिधि स्वीकार किया गया और इसके बाद इसकी लोकप्रियता संयुक्त राष्ट्र संघ में बढ़ी। केवल पीएलओ को उखाड़ने के लिए इस्राइल ने लेबनान पर 1982 में हमला कर दिया और शरणार्थी शिविरों पर भीषण बमबारी की और पूरी दुनिया खामोश रही। (पृ. 27) लेबनान में उस समय चार लाख फिलस्तीनी शरणार्थी थे और उनकी दयनीय स्थिति को बयान नहीं किया है।

यह भी नुक्ते की बात है कि इस्राइल

की स्थापना फिलस्तीनियों के विनाश की प्रस्तावना बन गई।

500 से भी अधिक गांवों से फिलस्तीनियों को भागने पर मजबूर किया गया। विस्थापित अरबों की पूरी पीढ़ी निर्वासन में जन्मी और पली और अपने देश में लौटने की प्रतीक्षा में है। विस्थापित लोगों के घर लौटने के अधिकार का प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ में पारित होने के बावजूद इस्राइल इसे नकारता आ रहा है। महेंद्र मिश्र का कहना है कि ''पिछले साठ-सत्तर साल से मुसलसल चलता हुआ इस्राइली विस्तारवाद उन्हें इतिहास से मिटाने का एक अमानवीय अभियान है।

शांतिवार्ता की राजनीति से फिलस्तीनियों की समस्या बढ़ी है और इसका ज्ञान इस्राइल को था। 2002 में इस्राइली मानवाधिकार संगठन बी तीसेलेम की रिपोर्ट इस्राइल के द्वारा फिलस्तीनियों की भूमि हड़पने और बाहर के विदेशी यहूदियों को बसाने का उल्लेख करती है। 2007 तक इनकी संख्या साढ़े चार लाख हो गई थी और लंबी-ऊंची दीवार भी खड़ी कर दी गई है, जिससे चार लाख से अधिक फिलस्तीनी घिर जाएंगे। चालीस हजार आबादी वाला कलकिलिला शहर पूर्ण रूप से घिर चुका है। एडवर्ड सईद ने ओसलो शांति समझौते को शत्रु के हाथों बेचने की भांति बताया है और इसकी विवेचना श्री महेंद्र जी ने भी गंभीरता से की है।

अपनी पुस्तक में मिश्र निराशाजनक संभावना की तस्वीर को उजागर करते हुए खेद व्यक्त करते हैं और विश्व के मानव समुदाय से न्याय की उम्मीद भी रखते हैं। मुझे यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं कि यह किताब विश्वविद्यालयों और पुस्तकालय में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान हासिल करेगी, क्योंकि यह तथ्यों, महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट, डाटा, अनुभव और संबंधित नीति निर्धारकों से वार्तालाप पर आधारित है। मैं इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक को ऊंची शिक्षा के मैदान में योगदान करने का पात्र मानता हूं और यह भी आशा है कि इस पुस्तक से फिलस्तीनियों की समस्याओं और इस्राइल की राजनीति को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी।

फिलस्तीन और अरब-इस्राइल संघर्ष/महेंद्र मिश्र/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 450

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़-202002 (उ.प्र.)

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतराराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्त्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियाँ और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है— उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियां, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृतांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड 'हिंदुस्तानी की परंपरा' का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर

53, इंडियन एक्सप्रेस अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-110096

फोन : 09650101266

सरोकारों की शिक्षा और शिक्षा का सरोकार

कमलेश कुमार यादव

अपने समय और समाज के बीच घटती घटनाओं, दिन-प्रतिदिन इस विकलांग होते लोकतंत्र एवं वर्तमान व्यवस्था के चक्रव्यूह में फंसते हुए आम आदमी के ऊपर निगाह किसकी है? समस्याएं रोटी-कपड़ा-मकान से शुरू होकर शिक्षा के बौद्धिक लिबास तक फैली हुई हैं। आज के इस समय में जहां इस देश की जनता इतिहास और विचारधारा के नाम पर कुछ नहीं जानती, उसी इतिहास और विचारधारा के अंत की घोषणा बुद्धिजीवियों द्वारा होने लगी है। यह वही समय है, जहां राजसत्ता से लेकर मीडिया तक के लोग संदेह के घेरे में हैं। निराला के शब्दों में कहें तो—

'है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार।'

आज इसी प्रकार के अमानिशा के समय से हिंदुस्तान गुजर रहा है। निराला के यहां तो 'जलती एक मशाल' थी, जो राम को घनघोर निराशा भरे समय में आशा का दीप बनकर उभरी थी, पर आज के इस अविश्वास भरे समय में जनता किसे चुने, किसके पक्ष में खड़ी हो और क्या करे, खुद असमंजस में है। अंतर्विरोधों के इस दौर में जानेमाने कथाकार और व्यंग्यकार प्रेमपाल शर्मा ने आज संचार क्रांति के समय में शिक्षा व्यवस्था के बुरे हालात, शिक्षा व्यवस्था की वास्तविक सच्चाइयों पर सूक्ष्म और गंभीर निगाह रखते हुए अपनी पुस्तक 'पढ़ने का आनंद' में शिक्षा व्यवस्था की पेचिदगियों पर गहराई से चर्चा की है। जैसा कि वे खुद लिखते हैं, ''ये लेख, टिप्पणियां, शिक्षा, स्कूल, छात्रों के विभिन्न मसलों पर समाज, मीडिया में उठने वाली आवाजों की संगत में लिखी गई हैं और अधिकांशतः जनसत्ता आदि अखबारों में छपी हैं। सही मायनों में जिंदगी की कई पाठशालाओं से गुजरते हुए मैं कब शिक्षा के चौराहे पर आ खड़ा हुआ, मुझे भी नहीं पता। हां, यह जरूर है कि यह सब उसी आंतरिक दबाव, जरूरत की अभिव्यक्ति हैं, जिसमें हर नागरिक को शरीक होना चाहिए।'' (पृ. 9)

प्रेमपाल शर्मा इससे पहले 'हिंदी पट्टी : पतन की पड़ताल' 'समय, समाज और संस्कृति' और 'शब्द और सत्याग्रह' जैसे विचारोत्तेजक निबंध-संग्रहों के लिए मशहूर रहे हैं। एक चिंतक के रूप में मौजूदा शिक्षा-व्यवस्था पर 'पढ़ने का आनंद' उनकी नवीनतम पुस्तक है। हालांकि इसके अधिकांश लेख उनकी पिछली पुस्तकों में प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी आधुनिक शिक्षा व्यवस्था से संबंधित उन लेखों को इस पुस्तक में भी शामिल कर लिया गया है।

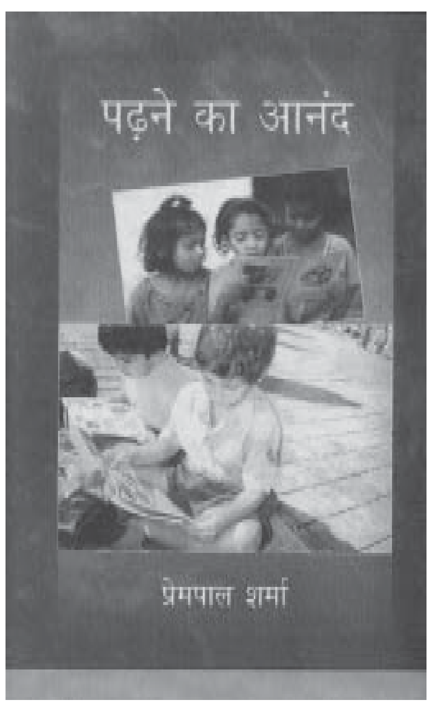

उत्तर आधुनिकता की हामी भरता हिंदुस्तान, जिसको जबरदस्ती 'इंडिया शाइनिंग' के नाम पर चमकाया जा रहा है, उन सबके बीच तमाम प्रकार की व्यवस्थाओं की तरह शिक्षा व्यवस्था का हाल क्या है, यह किसी से छिपा नहीं है। शिक्षा का असमान वितरण गांव की झोपड़ी से लेकर शहरों के आलीशान बंगलों तक देखा जा सकता है। कहीं पर मूलभूत शिक्षा ही नहीं है तो कहीं पर कॉन्वेंट स्कूलों में फीसों की मार झेलती और चिल्लाती जनता है। कहीं शिक्षा के सामाजिक स्तर पर भेदभाव है तो कहीं लैंगिक स्तर पर। रूसो ने शिक्षा संबंधी अपना प्रकृति का सिद्धांत देते हुए किस तरह स्त्री-शिक्षा का विरोध किया था, वह शिक्षा का लैंगिक विभाजन आज भी हिंदुस्तान में दूर नहीं हो पाया है। प्रेमपाल शर्मा अपने लेख 'पापा के कहने पर' में एक तरह से उन्हीं सवालों को उठाते हैं, जिन सवालों पर मानव के स्वभाव के अनुसार शिक्षा के ऊपर बहस भारतीय सिनेमा से लेकर शिक्षाविदों तक छिड़ी हुई है।

'शिक्षा की परीक्षा, 'शिक्षा के मूल्य', 'ट्यूशन का कहर', 'मंडे टेस्ट', 'डिग्री प्रोजेक्ट', 'दीवार पर लटकते मूल्य', 'शिक्षक और शिक्षण संस्थान' इत्यादि निबंधों में वे शिक्षा व्यवस्था के खोखलेपन को दर्शाते हैं। शिक्षा के बाजारीकरण तथा इस भाग-दौड़ के समय में अपने बेटे को सबसे तेज दौड़ाने की रेस में हांफते मां-बाप, इन्सान की जगह मशीनों का निर्माण इन निबंधों की मुख्य चिंता है, ''मुझे लगता है बच्चों से ज्यादा तो इन अभिभावकों को समझने की जरूरत है, जो जरूरत से ज्यादा बच्चों की शिक्षा का वजन सिर पर लादे खड़े हैं, जैसे इनकी जिंदगी में देश, समाज

सबको बेदखल करके केवल इनके अपने बच्चे बचे हैं। इन्होंने बच्चों की जिंदगी से सबकुछ फेंककर केवल 'किताबी पाठ्यक्रम' रख लिया है। उसी को ओढ़ो, उसी को बिछाओ।'' (पृ. 95) अगर इसी तरह की शिक्षा छात्रों को मिलती रही तो क्या आने वाले भविष्य में देश-प्रेम खंडित नहीं होगा? क्या वे देश के नव-निर्माण में अपनी भूमिका का सही निर्वहन कर सकेंगे, ''क्या अपनी भाषा, परिवेश को बेहतर जानना सच्चा देश-प्रेम और धर्म-संस्कृति में नहीं आता? क्या अपने गरीब देशवासियों की भाषा, बोली, रीति-रिवाजों से बचकर बिना जरूरत के भी हर विदेशी भाषा और उनके टोटके—फादर्स डे, मदर्स डे, वैलेंटाइन डे के पीछे भागना कम बड़ा देशद्रोह है? बड़ों के सम्मान में क्या सिर्फ मां-बाप, रिश्तेदार ही आते हैं, समाज के अपाहिज, कमजोर वर्ग नहीं? जहां करोड़ों जन सड़क पर सोते, जीवन बिताते हों, वहां क्या दिल्ली, मुंबई की आलीशान कोठियों, बंगलों में रहना कम बड़ा अपराध और जहरीला मूल्य नहीं है।'' (पृष्ठ 40)

आज के समय में जब मनुष्य लगातार संवेदनहीन होता जा रहा है, संचार क्रांति के उफान के साथ किताबें हाशिए पर चली गई हैं। व्यवसायीकरण के इस दबाव के बीच अगर प्रेमपाल शर्मा 'पढ़ने का आनंद' की बात करते हैं तो वह निश्चित रूप से ज्ञान के वास्तविक संसार से साक्षात्कार करने की बात करते हैं, जहां हम किताबों के बीच घूमते हुए पूरे विश्व के बेहतरीन मस्तिष्क में इन्सानियत की रूह को बचाए रखने की ताकत से जुड़ते हैं, आनंदित होते हैं। अपने मस्तिष्क का व्यापक स्तर पर फैलाव तथा कुछ करने की ताकत का एहसास तभी हो सकता है, जब हमें 'पढ़ने का आनंद' महसूस हो। जहां नाखून के बराबर चिप में पूरी दुनिया को संभाल लेने की ताकत हो, जहां इन्सान को इस अंधाधुंध भागमभाग की दौड़ में एक क्षण की फुरसत न हो, उस बीच 'पढ़ने का आनंद' उस समय के खिलाफ टकरा जाने वालों को ही मिल सकता है।

'समझ का माध्यम', 'पुस्तकालय में हिंदी', 'सरकार, भाषा और अकादमियां', 'विज्ञान : शिक्षा की पहली शर्त', 'समझ का माध्यम : कुछ अनुभव कुछ निष्कर्ष' नामक निबंधों में हिंदी तथा भारतीय भाषाओं को लेकर उनकी चिंता जाहिर हुई है। देश को और तेजी के साथ विकसित होने के लिए वे अपनी भाषा में शिक्षा देने की वकालत करते नजर आते हैं, क्योंकि अपनी भाषा में हमारी सोचने और समझने की शक्ति तेज होती है, ''मेरे दिमाग में विज्ञान के प्रति जो प्रेम या संकल्पनाएं आज भी जीवित हैं, वे सिर्फ वही हैं, जब मैंने विज्ञान अपनी भाषा में पढ़ा। बच्चे अपनी भाषा में पढ़ेंगे तो न उन्हें प्रश्न पूछने में झिझक होगी, न उत्तर देने में। दुनिया के हर भाषाविद् का यह मानना है कि अपनी भाषा में समझने की रफ्तार कई गुना अधिक होती है।'' (पृष्ठ 151) सार्थक और सही विचार अपनी ही भाषा में हो सकता है, क्योंकि अपना विचार दूसरे की भाषा में ठीक ढंग से संप्रेषित नहीं हो पाता है—

'दिल से तो हर मामला तय करके चले थे साफ हम
कहने में उनके सामने बात बदल-बदल गई।'

'अच्छा स्कूल', समाज में रहने की शिक्षा', 'सरकारी स्कूल : फीस कम पढ़ाई अच्छी' इत्यादि निबंधों के माध्यम से शिक्षा के बुनियादी अधिकारों को हाशिए तक के लोगों तक पहुंचाने तथा शिक्षा की असमानता के वास्तविक कारणों को खोजने का प्रयास करते हैं, क्योंकि व्यक्ति, समाज और सरकार के अन्योन्याश्रित संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में समझते हुए 'समान शिक्षा' समस्या के समाधान का एक रास्ता हो सकता है। इसलिए प्रेमपाल शर्मा सामाजिक और 'समान शिक्षा' की अनिवार्यता पर जोर देते हैं, ''यदि मौजूदा भारत की तस्वीर बदली जा सकती है, तो केवल उसके लिए एक शब्द होगा 'शिक्षा' और वह भी 'समान शिक्षा'। जो संविधान अपने पहले अनुच्छेद से ही समानता की बात करता हो, वहां 'समान शिक्षा' की बात क्यों दूर-दूर तक ओझल होती जा रही है।'' (पृष्ठ 119)

इस पुस्तक का दूसरा खंड शिक्षा, किताबों आदि के संदर्भ में है। 'मेरे जीवन में पुस्तकालय', 'मां और मेरी शिक्षा' ये दो निबंध प्रेमपाल शर्मा के व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों से लैस होकर अपने समय का मूल्यांकन करते हैं। मां के आंचल तले शिक्षा के बोए जाते बीज के साथ लहलहाती फसल भी है तो 'डार्विन के बहाने' आज की शिक्षा-प्रणाली से संवाद भी। डार्विन के विकासवाद से होते हुए प्रेमपाल जी शिक्षा के लिए स्कूल के विकल्प को तलाशते हुए 'शिक्षा के सरोकारों' की बात करते हैं। 'बच्चे क्यों असफल होते हैं?' नामक निबंध में लेखक द्वारा बच्चों के असफल होने की कारणों की भी पड़ताल की गई है। हिंदी में एकलव्य प्रकाशन (एकलव्य : उम्मीद की किरण) एक उम्मीद की किरण लेकर आया है, जो आधुनिक शिक्षा, समाज और विज्ञान पर केंद्रित है, ''हिंदी में विज्ञान-पत्रिकाओं के संदर्भ में 'एकलव्य' के ये प्रकाशन बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'शैक्षणिक संदर्भ' द्विमासिक है। कहने के लिए तो यह शिक्षा पर केंद्रित है, लेकिन विज्ञान विषयक जितनी रोचक जानकारी से भरपूर सामग्री इसमें छपती है, अन्यत्र दुर्लभ है।'' (पृष्ठ 207)

'सांप्रदायिकता : स्कूली इतिहास का कहर' नामक निबंध में स्कूली इतिहास पर सांप्रदायिकता के रंग खून से सने भविष्य की तरफ इशारा करते हैं। कुल मिलाकर प्रेमपाल शर्मा शिक्षा के विभिन्न आयामों, उसके मनोवैज्ञानिक पक्षों के संदर्भ में जमीनी हकीकत को उजागर करते हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा है, ''पढ़ाई को लेकर, विशेषकर महानगरों में मचे कोहराम को देखकर मन में ये प्रश्न भी उठते हैं कि क्या पढ़ना वाकई इतना मुश्किल काम है कि बच्चे, अभिभावक, स्कूल तनाव के अड्डे बन जाएं?...जिस शिक्षा का चेहरा ऐसा क्रूर हो कि बच्चे और नौजवान आत्महत्या करने को मजबूर हों; जो आपके चेहरे, विचारों को और सांप्रदायिक, जातिवादी, कूपमंडूक बनाए; जो प्रतिभा के नाम पर सिर्फ रट्टू, नकलची, ढिंढोरची नागरिक बनाए, उसे आज और अभी बदलने की जरूरत है और यह तभी संभव है, जब हम और हमारे बच्चे हँसते, खेलते 'पढ़ने के आनंद' में शामिल हों।'' (पृष्ठ 10) अंततः लेखक प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद, अंधविश्वास, गरीबी, बेरोजगारी, असमानता, भ्रष्टाचार जैसे शर्मसार कर देने वाली समस्याओं के समाधान का एक मात्र हथियार 'शिक्षा' में ही खोजता है।

पढ़ने का आनंद/प्रेमपाल शर्मा/सामयिक बुक्स, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 360

साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001, मो. 9422386011

ऐतिहासिक साक्ष्य एवं सांस्कृतिक गवाक्ष

रणजीत साहा

इतिहास और संस्कृति एक ऐसी विषम, दुर्जेय या अपराजित विधा है कि आप इसमें अलीबाबा की तरह घुसते हैं और कासिम की तरह बंद हो जाते हैं। प्रो. उदयप्रकाश अरोड़ा ने प्रस्तुत किताब के माध्यम से एक ऐसा अकादमिक तिलिस्म रचा है कि पाठकों को ऐसा जान पड़ता है कि इसके पन्नों पर यूनानी अजायबघरों और संग्रहालयों की दीवारें, मूर्तियां, राजकक्ष, मृद्‌भांड, हथियार, पांडुलिपियां, नाट्‌यगृह, स्टेडियम आदि सभी एक-एक कर सजीव हो उठे हैं।

कुल छब्बीस अध्यायों में विभाजित, 492 पृष्ठों में मुद्रित, 38 चित्रों और 12 मानचित्रों से सज्जित 'प्राचीन यूनान : इतिहास और संस्कृति' ग्रंथ अपने लेखकीय संकल्प के निकष और पाठकों की अपेक्षा पर निश्चय ही खरा उतरता है। प्राचीन यूनान के इतिहास और संस्कृति को व्यवस्थित और प्रामाणिक ढंग से जानने के लिए यह संभवतः एक अनिवार्य ग्रंथ है, विशेषकर हिंदी पाठकों के लिए और हिंदी के माध्यम से इतिहास एवं संस्कृति के अध्येताओं के लिए।

ग्रंथ के आरंभिक यानी भौगोलिक पृष्ठभूमि से लेकर छठे अध्याय अर्थात्‌ यूनानी इतिहास के प्रमुख स्रोतों पर विचार करते हुए लेखक ने मिनोअन क्रीट (मिनोआइकी क्रीती), साइक्लेडस (किकलादेस) सभ्यता,मायसीनियन यूनान (मिकीनाइकी एलादा), अंधकार युग एवं होमर (ओमिरोस) के अंतर्गत उन अज्ञात और अल्पज्ञात स्रोतों, तथ्यों एवं सूचनाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जिनकी अभी हाल तक अनदेखी की जाती रही है। इसमें उस सूक्ष्म विभाजन का भी संकेत है—जहां क्रीट और यूनानवासियों तथा इंडो-यूरोपियन यूनानियों के अपने-अपने आराध्य एवं संकेतात्मक प्रतीक थे। इसी अध्याय में उन इंडो-यूरोपियन लोगों को आक्रमणकारी तक बताया गया, जो सर्वोच्च महत्ता मातृदेवी को नहीं, बल्कि पुरुष देवता को देते थे। मातृदेवी जहां पृथ्वी की हरीतिमा और उर्वराशक्ति की प्रतीक थी, वहां पुरुष देवता आकाश, ऋतु और वर्षा का प्रतिनिधित्व करते थे। मातृदेवी प्रधान मिनोअन क्रीट जन समाज और पुरुष प्रधान यूनानी संस्कृति के संपर्क का उल्लेख यूनान ने अपनी पौराणिक कथाओं के माध्यम से किया है। स्पष्ट है, इस अवधारणा को हम अन्य प्राचीन संस्कृतियों में भी लक्ष्य करते रहे हैं, विशेषकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति में, जहां हम अपनी पुरागाथाओं में अलग-अलग जातियों और नस्लों—(यहां तक कि सुर-असुर वाली सम और विषम अवधारणा एवं इससे जुड़े कौतूहलपूर्ण आख्यानों के आलोक में देख सकते हैं—जहां कथा-वृत्त और इतिहास के परवर्ती और अधुना स्वीकार्य विभाजन के अंतर

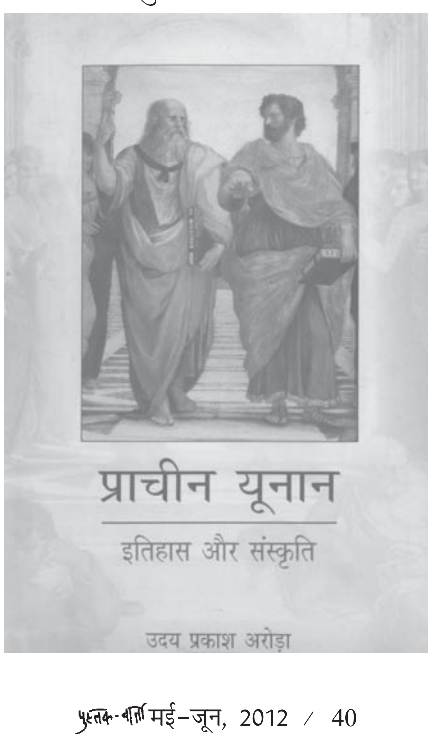

को मिटा दिया गया है।

लेखक ने 'औपनिवेशिक प्रसार एवं पुनर्जागरण' अध्याय के अंतर्गत जिस पुनर्जागरण को रेखांकित या चरितार्थ करना चाहा है, वह शीर्षक के साथ न्याय नहीं कर पाता। हिंदी पाठकों के लिए यह पद विभ्रम पैदा कर सकता है, क्योंकि यह देशकाल या प्रवृत्ति विषयक किसी परिवर्तन या मूल्य-संक्रमण को द्योतित नहीं करता। यहां उपनिवेशों के प्रसार से आर्थिक परिदृश्य में बदलाव और व्यापार तथा उद्योग के परिणामस्वरूप नगरीकरण की तीव्रता की बात अवश्य की गई है।

अगले अध्याय में पोलिस, जिसे अंग्रेजी में सिटी स्टेट कहा गया, की चर्चा करते हुए लेखक द्वारा इसे अशुद्ध अनुवाद बताया गया है, क्योंकि यह न तो नगर से मिलता-जुलता था और न केवल राज्य ही था। ''राज्य के साथ-साथ यह कुछ अतिरिक्त भी था, जो वर्तमान जगत में विद्यमान नहीं है।'' (पृ. 131) इस अमूर्त संज्ञान की व्याख्या करना तब संभव हो पाता है, जब लेखक कुछ देर बाद यह जोड़ता है कि ''अरस्तू ने जब यह कहा कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, तब उसका तात्पर्य यह था कि मनुष्य वह राजनीतिक प्राणी है, जो 'पोलिस' व्यवस्था में निवास करता है।'' (पृ. 133) इसी अध्याय में नगरों की आबादी, मुद्रा-प्रकार, बाजार, सामुदायिक जीवंतता आदि का उल्लेख करते हुए थ्यूसीडाइडीस, अरिस्तोफानीज और सोफोक्लीज की रचनाओं (अंतीगोने एवं ओडीपस) के हवाले से 'पोलिस' की संकल्पना को पुष्ट किया है। 'ओडीपस' नाटक में जब दास थीबीस महारानी को बतलाता है कि पोलिस से उसने सुना कि लाइओस (महारानी का पति) लुटेरों द्वारा मारा गया, तब उसका तात्पर्य 'सभी लोगों' से था। यहां 'सभी लोगों'

अथवा 'समस्त जनता' का प्रयोग राजनीतिक संदर्भ में नही है। यह बदला हुआ अर्थ यूनानी साहित्य में यद्यपि प्रमुख नहीं है, किंतु अनुपस्थित भी नहीं है या फिर थ्यूसीडाइडीस के अनुसार, ''जब पेरीक्लीज की अंत्येष्टि के समय, दिमोस्थैनिस अपने भाषण में उस व्यक्ति के विषय में चर्चा करता है, जो पोलिस से दूर रहता है, तब उसका अर्थ है कि वह व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में भाग नहीं लेता तथा समुदाय के क्रिया-कलापों में उसकी कोई रुचि नहीं है।'' (पृ. 137)

उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि इतिहास या तथ्याश्रित अर्थ या आशय के बरक्स कभी-कभी साहित्यिक कृतियों का अनुरोध अधिक प्रबल एवं प्रभावी होता है और प्रो. अरोड़ा ने इसका विशेष खयाल रखा है। पुस्तक का 14वां अध्याय जहां धार्मिक विश्वास से जुड़ा है, वहां 15वां अध्याय दार्शनिक चिंतन से संबद्ध है। ये दोनों अध्याय इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनकी यात्रा कहीं-कहीं भारतीय धर्मदर्शन और दार्शनिक चिंतन के समानांतर चलती दिखाई देती है और कहीं-कहीं इनके विपरीत भी प्रतीत होती है।

यहां, यह सूचना भी ध्यान देने योग्य है कि देवश्रेणी और मनुष्य के मध्य एक श्रेणी इरोस (हीरो) की भी थी, जो मनुष्यों से बढ़कर और देवताओं से कम शक्तिशाली थी। पृथ्वी पर महत्त्वपूर्ण कार्य करने और मृत्यु के पश्चात् मनुष्य 'इरोस' का पद प्राप्त कर लेते थे। देवताओं के समान ही 'इरोस' की पूजा के केंद्र समस्त यूनान में फैले हुए थे। ''स्थानीय लोग बहुधा उसे 'इरोस' की समाधि मान लेते थे। जनता इन 'इरोस' में वही गुण देखती थी, जिसकी कल्पना होमर ने ट्रोजन 'हीरोस' के लिए की थी।'' (पृ. 196)

प्रो. अरोड़ा ने यूनानी दर्शन की परंपरा पर जो जानकारी भरी सामग्री प्रस्तुत की है, वह उनके पूर्ववर्ती विचारकों द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर ही आधारित है। यूनान में दार्शनिक चिंतन का आधार अमूर्त अपनी वायवीय सत्ता या दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक तत्व-चिंतन से कमोबेश मुक्त रहा है। यूनानी दर्शन का उदय 600 ई.पू. माना जाता है—जब मिलेट्स निवासी प्रथम यूनानी दार्शनिक थलेस ने सूर्य एवं चंद्रग्रहण के बारे में भविष्यवाणी की थी। इसके बाद कुछेक दार्शनिक संप्रदाय, जो अस्तित्व में आए, उनमें मिलेशियन, पाइथागोरियन, सोफीस्ट प्रमुख थे। इस अध्याय के अंतर्गत इन विभिन्न मतवादों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

लेकिन इस यूनानी दार्शनिक चिंतन की व्यवस्थित सरणि का आरंभ प्लेटो (427-349 ई.पू.) से हुआ और परवर्ती वर्षों में यह दर्शन अपने प्रकर्ष तक पहुंचा। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की दार्शनिक-त्रयी ने बाद के वर्षों में न केवल विश्व की दार्शनिक चेतना और बौद्धिक मनीषा को प्रभावित एवं नियंत्रित किया, बल्कि दर्शन की परंपरा को व्यवस्थित परिणति तक भी पहुंचाया। सत्ता, शासन-व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, प्रजातंत्र, जनकल्याण आदि पर उन्होंने ध्यान केंद्रित किया था। इसके फलस्वरूप ज्ञान के साथ-साथ व्यवहारमूलक या यथार्थवादी सिद्धांत को विकसित करने की विधि भी विकसित हुई थी।

इस ग्रंथ में उन ऐतिहासिक परिवर्तनों एवं प्रतिवेशी राज्यों और शत्रु जातियों द्वारा हुए आक्रमणों के फलस्वरूप अप्रत्याशित परिणामों का भी हवाला दिया गया है।

यूनान के प्राचीन साहित्य पर चर्चा करते हुए लेखक ने इसका आरंभ पुरातन युग (आर्काइक पीरियड, आरखाई कोस) से किया है, जो 500 ई.पू. तक है। तदुपरांत क्लासिकी युग (500 ई. से 300 ई.पू.) आता है और इसके बाद अन्य तीन युगों—हेलेनिस्टिक, रोमन और बिजांतीनी पर चर्चा की गई है। संबंधित विद्वानों के अनुसार क्लासिकी युग यूनानी संस्कृति की आत्मा है, जो इसी युग की रचनाओं एवं निर्मितियों में अभिव्यक्त एवं सुरक्षित है।

हेलेनिस्टिक दौर में गीतिकाव्य (Lyric Poetry) का उल्लेख होमर ने किया है। 'लीरा' (वीणा सरीखे वाद्य यंत्र) के साथ इसके गान गाए जाते थे। किसी एक गायक द्वारा इसका नेतृत्व किया जाता था और समूह उसका अनुसरण या सहयोग करता था। यूनानी गीतिकाव्य को समृद्ध बनाने में सर्वाधिक योगदान 600 ई.पू. में वर्तमान विओतिया निवासी पिंडर (पिंदारोस) का था, जिनके गीतों के सत्रह खंड, कालांतर में संकलित किए गए। इनमें अपोलो के सम्मान में लिखित 'पेअन' छंद, जुलूस गीत (प्रयाण गीत), कुमारिका गीत, नृत्यगीत (हिपौर खैमाता), शोकगीत, व्यक्तिपरक गीत (एनकोमिया गीत) और विजेता गौरवगान एवं विजयी खिलाड़ी के सम्मानार्थ रचित एमिनीकिआ का आरंभ हुआ। लयात्मकता ही इन गानों का सौंदर्य है, जबकि भावादि गौण हैं।

यूनानी साहित्य-संस्कृति में दुखान्त नाटकों के प्रणयन और पल्लवन को इसके वर्चस्व और उत्कर्ष से जोड़ा जाता रहा है। एसखीलोस (525-456 ई.पू.) से आरंभ हुई यह परंपरा बाखीलिदिस और सोफोक्लीज तथा युरीपिदीस, (एवरीपिदीस, 485-406 ई.पू.) निरंतर अग्रसर होती रही है। सोफोक्लीस (496-406 ई.पू.) ने गीतात्मकता से अभिनय की ओर विशेष ध्यान दिया। इन दोनों नाटककारों ने यूनानी देवमाला के उत्कर्ष से लेकर मनुष्य के संघर्ष और संकल्प को इतने रूपाकार प्रदान किए कि वे नाटक विशेष तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि रचनात्मक अभिप्राय में ढल गए। यही नहीं, व्यक्ति जीवन के आनंद-अवसाद, सुख-दुःख, उत्कर्ष-अपकर्ष से जुड़कर मानवीय मनोग्रंथि के पर्याय हो गए। प्रमथ्यु द्वारा अग्नि का संधान एसखिलोस के 'प्रोमीथिअस' नाटक का विषय था और जिसे काकेशस की पहाड़ी चट्टान के नीचे कैद कर लिया गया था। ऐसा माना जाता है कि वहां कैद प्रोमीथिअस आज भी जीअस के विरुद्ध चीख रहा है। इसी तरह युरीपिदीस ने देवताओं की नैतिकता पर आघात ही नहीं किया, उनकी दिव्यता को भी प्रश्नांकित किया, साथ ही पारंपरिक देवी-देवताओं के स्थान पर दार्शनिक देवताओं की अभ्यर्थना पर जोर दिया। इसी तरह सोफोक्लीस (496-406 ई.पू.) ने नाटक में निहित गीतात्मकता को अभिनय केंद्रित किया। यहां 'इलैक्ट्रा' नाटक का उल्लेख आवश्यक है, जो मनुष्य की नश्वरता को उद्घाटित करता है और एक साधारण किसान को इलैक्ट्रा का पति बनाकर उसे नाटक में प्रमुख स्थान देता है। देवमाला के आराधक यूनानी मानस से अलग युरीपिदीस ने 'मीदिआ' नाटक में मनुष्य के मस्तिष्क में उत्पन्न द्वंद्व की यंत्रणा को उजागर किया था। कहना न होगा, ये सभी नाटक विश्व की प्रमुख भाषाओं और हिंदी के साथ भारतीय भाषाओं में भी अनूदित एवं रूपांतरित हुए।

लेखक ने कला और स्थापत्य वाले अध्याय में विस्तार से वास्तुकला के अंतर्गत

सृष्टि निर्माण, नगर योजना, स्तोआ, नाट्य निर्माण, खोरोस (कोरस) के साथ ही वृत्ताकार नृत्य स्थल का जिक्र किया है। फणाकार (Wedge shaped) मंच, दर्शकों के लिए आगत एवं निर्गत स्थल एवं निर्धारित द्वार, दोमंजिले मंच, प्रकाश सोपान, चल पथ (दिया जोमा) की संरचना हमें आज भी विस्मित कर देती है। अभिजात एवं सामान्य दर्शकों के बैठने के लिए दीर्घा का निर्माण अर्धवृत्ताकार सीढ़ीनुमा कतारों में किया गया था, जहां प्रेक्षक मंच के सम्मुख बैठते थे। ऐसे ही एक नाट्य स्थल एपिदावरोस में 14,000 हजार प्रेक्षक एक साथ बैठ सकते थे और इसमें 55 सीढ़ीनुमा कतारें थीं; इसी तरह आगोस में 90, डेल्फी में 35 और एथेंस में 64 सीढ़ीनुमा कतारों की व्यवस्था थी। यूनान के प्राचीनतम स्टेडियम ओलिंपिया में लगभग 45,000 दर्शकों के बैठने की व्यवस्था थी।

लेखक ने मूर्तिकला विषयक अध्याय में प्रारंभिक या पुरातन युग (Archaic Age) से लेकर क्लासिकल युग (Classical age) अर्थात् 660-680 ई. से लेकर 500-400 ई. पू. तक किए गए मंदिरों एवं भवनों के निर्माण, गर्भगृह, अलंकरण, रिलीफ द्विआयामी उत्कीर्णन के साथ संबद्ध धार्मिक कृत्यों, धर्मेत्तर अनुष्ठानों एवं अन्यान्य पर्वोत्सवों का भी हवाला दिया है। इस अध्याय की विषय-व्याप्ति में चित्रकला, मृद्भांड कला, धातुकला और यहां तक कि फर्नीचर आदि भी ब्योरेवार वर्णित हैं, जो पाठक की उत्कंठा और जिज्ञासा को बनाए रखते हैं।

पुस्तक के अंतिम दो अध्याय—'यूनानी संस्कृति : एक मूल्यांकन' और 'प्राचीन भारत और यूनान : सांस्कृतिक संबंध' पाठकों के लिए निस्संदेह कई महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से समृद्ध हैं, जो लेखक के अध्ययन और अध्यवसाय का परिणाम हैं। तुलनात्मक भाषा विज्ञान एवं तुलनात्मक मिथकशास्त्र के अध्ययन एवं विमर्श के लिए तथा यूनानी और भारतीय सभ्यता, भाषा एवं संस्कृति तथा धर्मेतिहास के अध्ययन के लिए इन दोनों अध्यायों का विशेष महत्त्व है। ज्ञान-विज्ञान, दर्शनशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान, राजनीतिक संगठन, खेलकूद एवं मनोरंजन, यानी जीवन के हर क्षेत्र में यूनानी सभ्यता ने अग्रणी भूमिका के साथ, अपनी सुसमृद्ध परंपरा ही स्थापित नहीं की, बल्कि लंबी अवधि तक उसकी निरंतरता बनाए रखी। विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में एक लंबी और उपयोगी शब्दावली यूनानी भाषा से ग्रहण की गई, जिसका विवरण लेखक ने (पृ. 412-413) दिया है।

305 ईसा पूर्व सिकंदर द्वारा पश्चिमी भारत समेत एशिया पर उसकी विजय की गाथा के साथ, परवर्ती यूनानी शासकों द्वारा राज्य विस्तार और प्रभाव 'हिंद यवन' शासक मिनांडर (राजा मिलिंद) का उल्लेख प्रसिद्ध बौद्धग्रंथ 'मिलिंद पञ्हो' (मिलिंद प्रश्न) में मिलता है। भारत के दार्शनिक चिंतन, स्वाभिमान एवं ईश्वर-प्रेम का यूनानी विचारकों के मन में बड़ा सम्मान था।

लगभग पचास वर्ष के शैक्षिक जीवन में प्रो. अरोड़ा ने जितना कार्य किया है और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं, उनसे उनकी अध्येतावृत्ति का सहज ही पता चल जाता है। यूनानी संस्कृति तथा भारत-यूनान सांस्कृतिक संबंधों के अध्ययन क्षेत्र में अग्रणी माने जाने वाले प्रो. अरोड़ा को यूनानी राष्ट्रपति ने यूनान के सर्वाधिक प्रतिष्ठित नागरिक सम्मान से विभूषित किया है। 'आर्डर-आव-ऑनर गोल्डेन क्रास' प्राप्त करने वाले आप एकमात्र भारतीय हैं। प्रस्तुत ग्रंथ को हिंदी पाठकों के लिए तैयार करते हुए प्रो. अरोड़ा ने इसके अकादमिक पक्ष की भरपूर रक्षा की है और परिशिष्ट में अनुक्रमणिका, संदर्भ-ग्रंथ, यूनानी-अंग्रेजी-हिंदी नामों के उच्चारण से संबंधित एक सूची भी तैयार कर दी है ताकि वर्तनी एवं उच्चारण संबंधी अनियमितता न रहे।

इस तरह के विवरणों से समृद्ध इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ को सचित्र एवं मनोयोगपूर्वक छापने के लिए इसके प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं। प्रसन्नता इस बात की भी है कि इसका छात्रोपयोगी पेपरबैक संस्करण भी उन्होंने प्रकाशित किया है।

प्राचीन यूनान : इतिहास और संस्कृति/उदय प्रकाश अरोड़ा/अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रब्यूटर्स (प्रा.) लि., 4697/3, 21ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 995 सजिल्द

भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067,
फोन 011-25544018, मो. 9811262257,
ई-मेल : dr_saha@rediffmail.com,
drsaharanjit@gmail.com

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है, जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाए हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्र व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्र व्यवहार तथा चित्र आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

मोंतेस्सोरी और बाल-शिक्षण

शिवरतन थानवी

राजस्थान के चुरू जिले में एक गांव है—राजलदेसर। कस्बा कह लीजिए भले उसे आप, किंतु निवासियों की सादगी और शांत सुंदर वातावरण देखते हैं, तो गांव ही नजर आता है। देश के एक ऐसे कोने में भी शिक्षा-जगत का एक अनमोल इतिहास रच दिया गया है, यह कम लोगों को ज्ञात है, किंतु जितना अधिक ज्ञात हो, दूर-दूर तक उतना ही शिक्षा और शिक्षकों को लाभ है।

इस कस्बे में साठ वर्ष से भी अधिक समय हुआ, जब से नन्हे बच्चों की शिक्षा का एक महायज्ञ निरंतर चल रहा है। यहां के निवासियों में यह चेतना जागी कि बच्चों की शिक्षा नई चिंतनधाराओं के अनुसार अधिक अच्छे रूप में हो। कुंदनमल वैद जैसे ऋषितुल्य व्यक्ति की चेष्टाएं इस यज्ञ में अग्रणी रही हैं। वे व्यवसायी हैं और व्यवसायियों के बीच रहते हैं। उनका निवास-स्थान राजलदेसर है और व्यावसायिक कार्यस्थल कलकत्ता है। उन्हें बाल शिक्षा दर्शन में इतनी गहरी रुचि है कि गिजुभाई और मोंतेस्सोरी का संदेश जन-जन तक पहुंचाने को आतुर हैं।

इनके और इनके समान बाल शिक्षा प्रेमी इनके सहयोगियों के प्रयत्नों से पहले तो 'अभिनव बाल भारती' नाम की संस्था प्रारंभ हुई। श्री भामरा जैसे शिक्षक को ढूंढ़ लाया गया, जो मोंतेस्सोरी शिक्षण पद्धति में पारंगत थे। मरीया मोंतेस्सोरी के भारत प्रवास के दौरान चेन्नई से कश्मीर तक अनेक शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन हुआ, उस दौरान श्री भामरा ने उनसे स्वयं से प्रशिक्षण प्राप्त किया था। फिर श्री वैद के प्रयत्नों से ही राजलदेसर में 'मोंतेस्सोरी बाल शिक्षण समिति' की स्थापना कर दी गई। इस समिति ने पहला ऐतिहासिक काम किया कि मोंतेस्सोरी के साक्षात भारतीय संस्करण 'मूंछों वाली मां' स्व. गिजुभाई बधेका की सैकड़ों में से शिक्षकोपयोगी 17 पुस्तकों का हिंदी अनुवाद कराके सामान्य मूल्य पर प्रकाशन किया। अनुवाद के लिए चुना स्व. गिजुभाई की 'शिक्षण पत्रिका' के हिंदी संस्करण के संपादक रहे और जो म.प्र. के शिक्षा मंत्री रहे, उन प्रातः स्मरणीय सच्चे शिक्षक स्व. श्री काशीनाथ त्रिवेदी को। गिजुभाई के साहित्य के घनिष्ठ प्रेम के वशीभूत श्री त्रिवेदी स्वयं राजलदेसर कई बार आए, पालथी मारकर धूनी रमाई और गिजुभाई ग्रंथमाला को पूरा कराया। इसमें उनका सहयोग किया कवि, लेखक, शिक्षक और प्रसिद्ध शैक्षिक पत्रकार श्री रामनरेश सोनी ने।

गिजुभाई ग्रंथमाला के बाद अब श्री वैद ने बीड़ा उठाया है गिजुभाई की भी आदर्श रहीं विश्वविख्यात शिक्षाविद् मरीया मोंतेस्सोरी के ग्रंथों के प्रकाशन का। इस ग्रंथमाला के प्रधान संपादक हैं मासिक शैक्षिक पत्रिका 'अनौपचारिका' संपादक श्री रमेश थानवी। ग्रंथमाला की पहली पुस्तक लिखवाई गई है कवि, लेखक और शिक्षाप्रेमी श्री संजीव मिश्रा से। यह मोंतेस्सोरी के जीवन और शिक्षा-दर्शन का परिचय कराती है। श्री वैद और श्री रमेश का यह निर्णय सर्वथा उचित है, क्योंकि हिंदी पाठकों, शिक्षकों के सामने ऐसी कोई पुस्तक आज तक हिंदी में उपलब्ध नहीं थी, जो मोंतेस्सोरी के जीवन और कृतित्व का थोड़े में सरल भाषा में परिचय दे सके। हमने शिक्षण कार्य हाथ में लिया है तो हमें गिजुभाई और मोंतेस्सोरी जैसे शिक्षा विशेषज्ञों का परिचय तो होना ही चाहिए। परिचय भी होना चाहिए और निष्ठावान शिक्षक बनने की दृष्टि से ऐसे महान शिक्षकों-शिक्षाविदों के सिद्धांतों को भी यथासुविधा गहरे समझते रहना चाहिए।

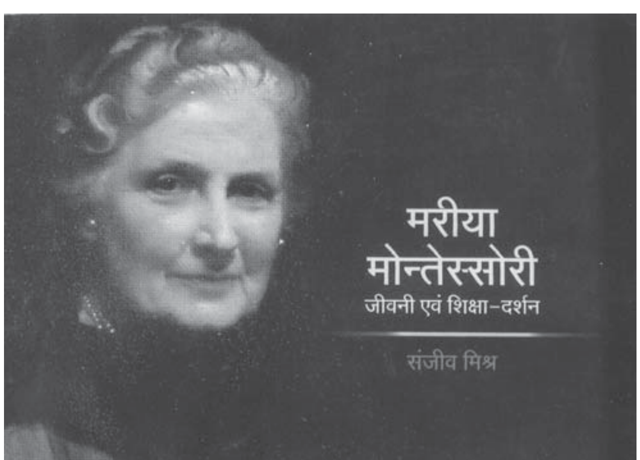

पुस्तक का दाम केवल एक सौ पचास रुपये है, किंतु भव्य कलात्मक रंगीन आवरण के साथ हर पृष्ठ पर एक तरफ बच्चों के बनाए भिन्न-भिन्न रंगीन तो दूसरी तरफ दूसरे पृष्ठ पर मरीया मोंतेस्सोरी के स्वयं के अथवा उनकी शिक्षण सामग्रियों के भिन्न-भिन्न रंगीन चित्रों से सजाई गई यह पुस्तक प्रकाशन उद्योग में भी तथा शिक्षकोपयोगी पुस्तकों के संसार में भी इतिहास रचेगी। इसका मनमोहक भव्य मुद्रण हुआ है सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर में। आवरण और साज-सज्जा का आकल्प करने वाले हैं प्रसिद्ध कलाकार श्री रामकिशन अडिग। पुस्तक का

रूपरंग और उसकी यह अद्भुत प्रस्तुति बताती है कि इसके प्रकाशन के प्रणेता श्री कुंदनमल वैद शिक्षक-पाठकों की सेवा का कितना ऊंचा सपना देखा करते हैं।

पुस्तक में एक प्रकाशकीय है, एक संपादकीय है, अंत में लेखक की एक कविता है, 'एक अनजान बच्चा' और कुल छह अध्याय हैं : 1. संघर्ष, 2. प्रेरणा, 3. अवसर, 4. प्रचार और मान्यता, 5. मौलिक सिद्धांत और पद्धति और 6. अंतिम दशक।

मरीया मोंतेस्सोरी शिक्षाजगत् के शिखर पर पहुंचीं बाल-शिक्षण की क्रांतिकारी विधियों के प्रवर्तन के कारण। जब वे अपने बाल-शिक्षण सिद्धांत को कई सफल प्रयोगों के बाद एक निश्चित रूप दे चुकीं तो दुनिया भर के लोगों तक बिजली की गति से यह खबर पहुंच गई। इटली में जन्म लिया था मोंतेस्सोरी ने और वहां की गरीब बस्तियों के बच्चों के बीच ही उसने अपने प्रयोग किए, खुद सीखे बाल मनोविज्ञान और बाल-शिक्षण शास्त्र के नए सूत्र और ऐसी अभूतपूर्व सफलता पाई कि दुनिया भर के लोग रोम की सान लोरंजो की इस बस्ती में मां मोंतेस्सोरी के काम की इस चमत्कारी घटना को देखने आने लगे।

मां मोंतेस्सोरी कोई शिक्षक नहीं थी, कोई शिक्षाविद् नहीं थी, मात्र एक डॉक्टर थी, किंतु एक भिखारिन के बच्चे को रोटी के टुकड़ों से खेलते हुए आनंद में मगन देखा तो उनके चिंतन और कार्य ने एक विस्मयकारी नई दिशा ग्रहण कर ली। बच्चे के आनंद का स्रोत उन्हें सहसा दिखाई दे गया। बच्चे की सक्रियता का उत्स उनके मस्तिष्क में सहसा कौंध गया और यों बच्चों के शरीर की मांसपेशियों व इंद्रियों की सक्रियता के साथ मस्तिष्क की सर्वशक्तिमान शक्तियों के उद्भव और विकास का स्वरूप भी उनकी समझ आ गया। फिर तो वे गोल, चौकोर, तिकोने, त्रिभुजाकार, काले, पीले, लाल, नीले, रंग-रंग के लकड़ी के खिलौने बनाती-बनवाती चली गईं और बच्चों के बीच उन्हें रख-रखकर उनके आनंद की लहरों की उत्पत्ति में, उनके व्यक्तित्व के विकास की संभावनाओं में डूब गईं।

फिर बच्चों की उम्र के अनुसार रुचियों का अध्ययन करते-करते उन्होंने यह जान लिया कि एक शिशु से वयस्क होने की प्रक्रिया में जितने पूर्ण परिवर्तनों के दौर से मानव गुजरता है, वे 'संवेदनशील काल' होते हैं। वे इस निर्णय पर पहुंचीं कि प्रत्येक ऐसे काल के दौरान बालक के व्यक्तित्व में किन्हीं विशेष गुणों-अवगुणों का समावेश होता जाता है, जो अंततः उसके वयस्क व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं। ऐसे प्रत्येक 'संवेदनशील काल' में किन्हीं विशेष कार्यों की ओर बच्चे की सहज रुचि होती है। जो सीखने की सामग्री बनानी हो, वह बच्चे की इसी अवधि की विशेषता को ध्यान में रखकर बनाई जाए तो वह उनके उपयोग में रुचिपूर्वक आनंद के साथ भाग लेगा और सहज-स्वाभाविक गति से विकास करेगा। प्रोत्साहन दंड या भय की यहां कोई जरूरत नहीं है। हमारा काम बालक को सही परिवेश देना और इस परिवेश में स्वतंत्र गतिविधि की छूट देना भर रहेगा।

यह मामूली सिद्धांत नहीं था। उनसे पहले फ्रोबेल ने किंडरगार्टन के सहारे बच्चों को समझकर उनके अनुकूल रहते हुए पढ़ाने के तरीकों का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। शिक्षा में स्वतंत्रता, समता आदि की बातें भी हॉब्स, रूसो, पेस्तालोजी आदि भी विस्तार से बता चुके थे। मोंतेस्सोरी ने जो क्षेत्र ओर जो दिशा पकड़ी, उधर उनसे पहले किसी ने पहल नहीं की थी। यह उनकी मौलिक देन सिद्ध हुई, शिक्षा संसार में विश्व भर के शिक्षाशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने उनके इस सिद्धांत को माना। उन्होंने माना कि एक मुक्त, संभावनाशील और सक्षम व्यक्तित्व के विकास में इनका महत्त्व निर्विवाद है। शिक्षकों के लिए यह सिद्धांत अनमोल है।

इस सिद्धांत के अनुसार सबसे बड़ी बात यह कि बाल-मन को समझो, भरपूर स्नेह दो और रंग-रूप, आकार-प्रकार सब पर ध्यान देते हुए ऐसी शिक्षण सामग्री काम में लो और ऐसे वातावरण का निर्माण करो, जो बच्चे को प्रसन्नता दे, सीखने का उत्साह दे और उसकी शारीरिक, मानसिक वृत्तियों को सक्रिय करे। इस सिद्धांत का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि विद्यालय में होने वाली हर गतिविधि के केंद्र में अध्यापक नहीं, बच्चा होता है।

इनके सिद्धांत के कुछ मुख्य कार्य ये हैं, जिन्हें एक खास उम्र में एक खास शैक्षणिक उद्देश्य के आधार पर करना होता है : 1. शारीरिक गतिविधियों पर नियंत्रण—छूना, पकड़ना, मुड़ना, संतुलन रखना, घिसटना, चलना; 2. शब्दों का प्रयोग—अर्थहीन को शब्दों, वाक्यों और बढ़ती हुई शब्दावली में बदलना; 3. तफसील—छोटी चीजों और तफसील के प्रति आकर्षण; 4. संवेदनशीलता—व्यवस्था के प्रति संवेदनशीलता जैसे लुका-छिपी के खेल में छिपना, आवाज देना, ढूंढ़ना, फिर हँसना-खुश होना, सब कुछ ज्यों का त्यों चाहना, जैसे खुद दरवाजे के पीछे छिपा तो दूसरा भी वहीं छिपे, सोफे के पीछे नहीं; 5. संगीत—लय, ताल और सुरों के प्रति आकर्षण, सहज रूप से गाना-गुनगुनाना, ताल देना, पांच थिरकाना आदि; 6. व्यवहार—सलीके का व्यवहार, अभिवादन और परस्पर व्यवहार के तौर-तरीके सीखने की प्रवृत्ति, बड़ों को देखकर वैसा ही सही व्यवहार करने की कोशिश; 7. इंद्रियों की अनुभूति—रंग, आकार, स्वाद, ध्वनि, स्पर्श, वजन और गंध के फर्क को समझना, महसूस करना और इनमें भेद कर सकना; 8. लिखना—कागज, पेंसिल, चॉक या रंगों से अक्षर और अंक बनाने का उत्साह; 9. पढ़ना—अक्षरों से बने शब्दों के आकार को एक ध्वनि और अर्थ के रूप में पहचानना और पढ़कर समझने का प्रयास; 10. दूरी, विस्तार और दिशा, इनका ज्ञान ताकि बच्चा घर, स्कूल, पार्क आदि पर नक्शा समझने लगे, एक से दूसरी जगह आ-जा सके, रास्ता खोजने जैसी पहेलियां सुलझाने की कोशिश कर सके; 11. गणित—गिनना, संख्या, परिमाण और जोड़ने-घटाने जैसे काम करना शुरू कर दे, आदि।

यों मोंतेस्सोरी ने दिखाया कि बच्चे के कार्यों के भिन्न-भिन्न अंगों का विभाजन करके उम्र, क्षमता और रुचि के अनुकूल शिक्षक बच्चे के साथ चलना सीखें। शिक्षक की शिक्षा एक नए कोण से करने का पाठ पढ़ाया मोंतेस्सोरी ने। शिक्षक को एक नई दृष्टि दी, एक नया शिक्षा-दर्शन दिया। कई पुस्तकों में उनका यह शिक्षा-दर्शन बहुत बारीक-बारीक विवरणों में फैला है। लेखक संजीव मिश्र ने उन सभी पुस्तकों का सरल-संक्षिप्त निचोड़ दिया है इस एक पुस्तक में। जो शिक्षक-

अभिभावक हर पहलू को गहराई से जानना चाहते हैं, वे मोंतेस्सोरी के मूल ग्रंथों को पढ़ेंगे। अंग्रेजी में तो वे पहले से उपलब्ध हैं, लेकिन हिंदी में अब मोंतेस्सोरी बाल शिक्षण समिति राजलदेसर उपलब्ध कराएगी।

मरीया मोंतेस्सोरी का जन्म 31 अगस्त, 1870 को इटली में हुआ था और निधन 6 मई, 1952 के दिन हॉलैंड में हुआ। मोंतेस्सोरी स्कूल आज गली-गली में खुल गए हैं। तब इतनी तेजी से प्रशंसा फैली इनके काम की कि दुनिया भर के लोग रोम की इस गरीब बस्ती की पतली गली में बाल-शिक्षण का यह नया प्रयोग देखने आने लगे। विश्वभर के अनेक देशों में अनेक अध्यापकों और संस्थाओं के मोंतेस्सोरी की शिक्षण पद्धति पर आधारित बाल-शिक्षण केंद्रों की स्थापना होने लगी। इस पद्धति और इससे जुड़े प्रयासों के बारे में अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपे। दो-तीन सालों में ही कई पुस्तकें अध्यापकों, समाजशास्त्रियों व शिक्षाविदों ने इन प्रयोगों के अनुभवों की लिख डालीं। इन्हें विश्वव्यापी मान्यता मिली। इंटरनेशनल मोंतेस्सोरी कांग्रेस की स्थापना हुई 1925 में, जिसके अधिवेशन हेल्सिंकी, एम्सटर्डम, रोम, ऑक्सफोर्ड आदि कई स्थानों पर हुए एवं मोंतेस्सोरी ने इनकी अध्यक्षता की। अमरीका में 'मोंतेस्सोरी सोसायटी' बन गई। टेलीफोन आविष्कर्ता अलेक्जेंडर ग्राहम बैल इसके संस्थापक-अध्यक्ष बने और अमरीका के राष्ट्रपति की पुत्री मार्गरेट विल्सन इसकी सचिव बनी। अमरीका, यूरोप, भारत, चीन और लंका आदि कई देशों की मरीया मोंतेस्सोरी ने यात्राएं की, व्याख्यान दिए और रुचिवान सैकड़ों शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया। अनेक भाषाओं में इनकी किताबों का अनुवाद हुआ। इनकी शिक्षण पद्धति एक आंदोलन बनकर पूरी दुनिया में छा गई। जो शिक्षक इस पुस्तक को पढ़ेंगे, वे आनंद पाएंगे, उनका ज्ञान बढ़ेगा।

मरीया मोंतेस्सोरी—जीवनी एवं शिक्षा दर्शन/संजीव मिश्र/मोंतेस्सोरी बाल शिक्षण समिति, राजलदेसर, चुरु-331802 (राजस्थान)/मूल्य : ₹ 150

मोची स्ट्रीट, फलोदी, जोधपुर-342301 (राजस्थान)
फोन : 02925-223453

संस्कृति-साहित्य और सिनेमा का संगम

कथाशिल्पी काशीनाथ सिंह से महावीर अग्रवाल की बातचीत

महावीर अग्रवाल : आपके चर्चित उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर फिल्म बन रही है। आप कैसा महसूस कर रहे हैं?

काशीनाथ सिंह : बहुत अच्छा लग रहा है। तीन-चार कारणों से। पहला तो यह कि पिछले तीस-चालीस वर्षों में किसी हिंदी लेखक के उपन्यास को फिल्म बनाने के लिए चुना गया है। यह उपन्यास 'काशी का अस्सी' है। दूसरी बात, फिल्म के निर्देशक डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी जाने-माने ओर जहीन निर्देशक हैं। उनकी साहित्य में गहरी रुचि है। वे ऐतिहासिक व पौराणिक साहित्य के गंभीर अध्येता हैं। वे 'चाणक्य' और 'पिंजर' जैसी शानदार फिल्में बना चुके हें। तीसरी प्रसन्नता—मैंने फिल्म बनाने के लिए उपन्यास नहीं लिखा था और न ही किसी फिल्मकार के पास गया। चौथी खुशी यह है कि फिल्म के प्रोड्यूसर श्री विनय कुमार तिवारी, जो 'क्रासवर्ल्ड इंटरटेनमेंट प्रा. लिमिटेड' के मालिक हैं, उन्होंने 'काशी का अस्सी' पहले पढ़ा था। उन्होंने डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी से उपन्यास पर फिल्म बनाने के लिए कहा। इस तरह निर्देशक द्विवेदी जी स्वयं मेरे उपन्यास पर फिल्म बनाने की अनुमति लेने के लिए आए और फिल्म बनने लगी।

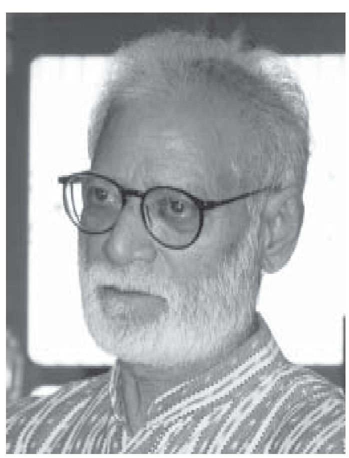

महावीर अग्रवाल : फिल्म के लिए स्क्रिप्ट और संवाद क्या आपने ही लिखे, संयोजित किए हैं?

काशीनाथ सिंह : स्क्रिप्ट स्वयं द्विवेदी जी ने लिखी है। उन्होंने मुझसे कहा भी कि स्क्रिप्ट मैं लिखूं, लेकिन मैंने कोई स्क्रिप्ट आज तक लिखी नहीं है। इसलिए मुझे लगा कि बेहतर यही है कि निर्देशक स्वयं लिखे। एक बात मुझे और लगती रही है कि उपन्यास काशी का अस्सी पांच कहानियों में बंटा हुआ है। जहां तक मेरी जानकारी है, फिल्म के लिए एक सुसंबद्ध कहानी जरूरी होती है। मैं इन पांच कहानियों में से किसे काटता और किसे जोड़ता? यह काम मेरे लिए चुनौतीपूर्ण और दुविधा से भरा हुआ था, सो फिल्म बनाने के लिए स्क्रिप्ट द्विवेदी जी ने ही लिखी है। पात्रों के संवाद का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। जहां तक संभव हुआ है, पात्रों के संवाद मेरे उपन्यास के अनुरूप ही रखे गए हैं। इसके बाद भी फिल्म व कहानी में सिलसिला बनाने के लिए उन्होंने संवाद लिखे हैं। मैंने स्क्रिप्ट देखनी चाही तो उन्होंने स्क्रिप्ट दिखाने से मना कर दिया और कहा, पूरी फिल्म बनने के बाद देखिएगा। मैं आपको चौंकाना चाहता हूं। पर्दे पर

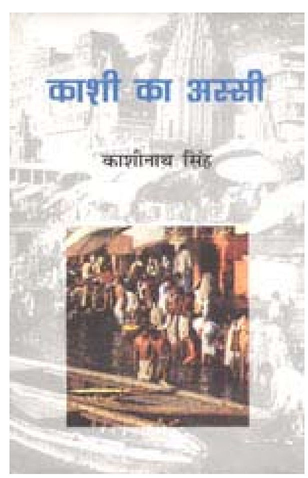

लाने से पहले अर्थात् रिलीज होने से पहले फिल्म मुझे दिखाएंगे।

महावीर अग्रवाल : आपके अभी तक के अनुभव के अनुसार फिल्म के निर्देशक डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी साहित्यिक कृति 'काशी का अस्सी' के साथ कितनी दूर तक न्याय करते नजर आते हैं?

काशीनाथ सिंह : इस उपन्यास में बुनियादी कहानी धर्मनाथ पांडेय और उनके परिवार पर केंद्रित है। फिल्म में एक ओर जिंदगी की जद्दोजहद के लिए धर्मनाथ पांडेय का परिवार है तो दूसरी ओर 'पप्पू की दुकान' का समूचा समाज इसमें बोलता हुआ नजर आता है। क्रासवर्ल्ड प्रोडक्शन, फिल्मसिटी में, गोरेगांव मुंबई में 'पप्पू की चाय की दुकान' का सेट जब पहली बार देखा तो चकित रह गया। अड्डेबाजों की तरह फिल्म के कलाकार पूरे माहौल में उसी तरह रंग भर रहे थे। मैंने जितना देखा और समझा है, बनारस की जिंदादिली, मस्ती, फक्कड़ी और हँसी-ठिठोली अपनी पूरी मौलिकता के साथ मौजूद है।

महावीर अग्रवाल : 'काशी का अस्सी' उपन्यास में खुलकर गालियों का प्रयोग हुआ है। क्या फिल्म में गालियां हूबहू अपने पूरे फार्म में मौजूद हैं?

काशीनाथ सिंह : निर्देशक मानते हैं बनारस की भाषायी संस्कृति का एक अलग रंग है। गालियां उपन्यास के जीवंत पात्रों के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। इसलिए भी फिल्म के संवाद में गालियां ज्यों की त्यों रखी गई हैं।

महावीर अग्रवाल : काशी के घाट, समूची काशी का परिवेश और पप्पू की चाय की दुकान, इनकी शूटिंग बनारस में ही हो रही है अथवा फिल्म सिटी में सेट्स बनाए गए हैं?

काशीनाथ सिंह : मैंने मुंबई की फिल्म सिटी का सेट देखा है और तीन दिन वहां रहकर उसमें चलने वाली शूटिंग भी देखी है। फिल्म सिटी में लगभग एक माह तक शूटिंग हुई। उसके बाद लगभग बीस दिन तक अस्सी घाट और मोहल्ला अस्सी में शूटिंग हो चुकी है। बीच-बीच में समय निकालकर मैं शूटिंग देखने के लिए जाता था। समय-समय पर फिल्म में अभिनय करने वाले कलाकारों से बातचीत भी की है। सन्नी देवल, रवि किशन, साक्षी तंवर, मुकेश तिवारी और अभिनेता राजेंद्र गुप्ता सहित अनेक कलाकारों से जितनी भी चर्चा हुई, बहुत संतोषप्रद स्थिति प्रतीत होती है।

महावीर अग्रवाल : फिल्म 'काशी का अस्सी' में समूचे बनारस का परिवेश, वहां की कला, साहित्य, संस्कृति और जनजीवन की बानगी तो दिखेगी ही। काशी के और किस पहलू का जिक्र खास तौर पर किया गया है?

काशीनाथ सिंह : फिल्म का निर्माण करने से पहले ही चंद्रप्रकाश जी 7-8 बार बनारस आ चुके थे। उन्होंने बनारस को बहुत ही बारीकी से देखा और समझा है। अपने साक्षात्कार में ऐसा वक्तव्य वे कई बार दे चुके हैं कि उपन्यास 'काशी का अस्सी' की आत्मा के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जाएगी।

मैं अपने तईं इतना जानता हूं कि चंद्रप्रकाश जी सार्थक फिल्में बनाने की कला में दक्ष हैं। अब तक बनाई फिल्मों में वे विषय-वस्तु और काल के अनुरूप वातावरण खड़ा करने में बहुत समर्थ नजर आते हैं। स्थितियों को साकार करते हुए पूरी तरह जीवंत बनाने वाले चितेरे हैं। डॉ. द्विवेदी ने बनारस छोड़ने से पहले मुझसे कहा था, ''वे बनारस की गरिमा, यहां की धार्मिक आस्था और ऐतिहासिक महत्त्व से परिचित हैं। विदेशों में ही नहीं, अपनी दुनिया में भी बनारस के लिए खास क्रेज को जानते-समझते हैं। कलकल करती मोक्षदायिनी गंगा की धारा, गंगा के घाट और बनारस के सांस्कृतिक वैभव और ठाठ-बाठ को मैंने इस तरह और इतना सूट कर लिया है कि दूसरे निर्देशकों के लिए कुछ नहीं बचेगा।'' इस तरह उन्होंने बनारस के हर पल को फिल्म में उतारने की भरपूर कोशिश की है।

महावीर अग्रवाल : क्या आपने स्वयं भी फिल्म में कहीं कोई भूमिका अदा की है?

काशीनाथ सिंह : मैंने फिल्म में अभिनय नहीं किया है। मेरी भूमिका एक कलाकार ने की है। एन.एस.डी. के एक कलाकार ने लेखक के रूप में काशीनाथ सिंह का अभिनय किया है। देखने पर मुझे भी चेहरे से, कपड़े-लत्ते से और पहनावे से अपनी ही निकटतम प्रतिकृति प्रतीत होती है।

महावीर अग्रवाल : फिल्म के निर्देशक डॉ.चंद्रप्रकाश द्विवेदी दक्षिणपंथी माने जाते हैं। आप प्रतिबद्ध वामपंथी लेखक हैं। फिल्म निर्माण में विचारों की टकराहट किस तरह सामने आती है?

काशीनाथ सिंह : बड़ी महत्त्वपूर्ण बात आपने उठाई है। मैं निर्देशक के दक्षिणपंथी रुझान से परिचित रहा हूं, इसके बाद भी फिल्म के तैयार होने में विचारधारा की कोई टकराहट नहीं हुई। 'काशी का अस्सी' हमारे समय और समाज का सच है, ऐसा निर्देशक द्विवेदी जी भी मानते हैं और उसे उसी रूप में पर्दे पर लाना चाहते हैं। सच तो यह है कि कोई मुद्दा ऐसा नहीं था, जिसमें मेरा द्विवेदी जी से मतभेद हुआ हो। फिल्म के प्रस्तुतीकरण के संबंध में हम दोनों की चाहत और सपने एक से हैं। महावीर जी, आप जानते हैं—लेफ्ट और राइट की दूरियां और टकराहट अब पहले की तरह कठोर नहीं हैं। प्रिंट मीडिया का दायरा सीमित होता है। द्विवेदी जी उपन्यास के मूल विचार को फिल्म के माध्यम से आम जनता तक पहुंचाना चाहते हैं। मुझे लगता है कि द्विवेदी जी को अपने इस कौशल में महारत हासिल है।

महावीर अग्रवाल : सचमुच यह तो बहुत ही अद्भुत जानकारी आपने हमें दी। यह भी बताइए कि क्या यह कला फिल्म है या फिर व्यावसायिक फिल्म है?

काशीनाथ सिंह : फिल्म की शूटिंग का काम पूरा हो चुका है। एडीटिंग का काम भी लगभग पूर्णता की ओर है। उम्मीद है कि 2012 में फिल्म पर्दे पर दिखाई जा सकेगी। इसमें कला फिल्म जैसी कोई बात नहीं है। कला फिल्मों को डिब्बा बंद फिल्म के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि ये फिल्में आम जनता तक नहीं पहुंच पातीं। यह व्यावसायिक फिल्म भी नहीं है, लेकिन निर्देशक डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी आश्वस्त हैं कि यह बाक्स आफिस पर सफल होगी और अच्छा व्यवसाय करेगी, क्योंकि जन-जन की समस्याएं और लोक रुचि से भरपूर है। जमीन से जुड़े साहित्य, संस्कृति और सिनेमा का संगम है फिल्म।

ए-14, आदर्श नगर, दुर्ग-491003 (छत्तीसगढ़)
फोन : 0788 (2210234)

तारीखों में ठिठकी कुछ सघन, स्याह स्मृतियां

नीलाभ कुमार

डायरी जीवन के निपट अकेलेपन को, सांझ जैसे स्याह, सघन दरख्तों को, अबोलेपन को दूर करने के लिए किए जाने वाले उपागमों में एक सक्षम और सार्थक उपागम है। 'तारीख की खंजड़ी' भी एक ऐसा ही उपागम है, जिसमें साहित्यकार सत्यनारायण ने न सिर्फ अपनी टूटी हुई बातों को लय प्रदान करने की कोशिश की है, बल्कि उस उबड़-खाबड़ और निपट अकेलेपन को दूर करने के लिए भी एक सार्थक कदम उठाने का प्रयत्न किया है।

''डायरी मैंने कभी सिलसिलेवार नहीं लिखी।'' साहित्य की डायरी विधा को सिलसिलेवार लिखा जाना उसकी रोचकता स्वयं नष्ट करने सरीखा होगा। बातों का ताना-बाना और उससे जुड़े सरोकार ही वह मुख्य बात होगी, जिससे डायरी का निर्माण हो सके। सत्यनारायण ने अपने तईं घटित बातों को एक गहरे ताने-बाने और उससे जुड़े सरोकारों के साथ निर्मित करने की कोशिश की है, जिसकी परिणति 'तारीखों में ठिठकी कुछ स्मृतियां' (उपर्युक्त, पृ. सं. 6) है, जो हमारे सामने द्रष्टव्य हैं।

स्मृतियां जीवन के उन स्याह क्षणों की हैं, जब डायरीकार निपट अकेलेपन को तो महसूस करता ही है; साथ ही उस समय को भी जी रहा होता है, जब व्यक्ति चाहकर भी कुछ न कर पाने की स्थिति में होता है। जाहिर है ऐसी स्थिति में उसका अकेलापन उसे काट खाने को दौड़ता है और भीड़ में जाना उसे अच्छा नहीं लगता, क्योंकि न तो वह भीड़ को बर्दाश्त कर सकता है और न ही भीड़ उसे। सत्यनारायण भी ऐसी ही स्थितियों से दो-चार हो रहे होते हैं, जब वे 16 अगस्त, 1986 ई. कॉलम में लिखते हैं, ''विशेष कुछ नहीं, सारे दिन सड़कों पर भटकना और कॉफी हाउस में निरर्थक बैठे रहना।'' (उप. पृ. सं. 9)।

पूरे दिन की डायरी का पन्ना एक वाक्य में भी समाप्त होता है। इससे ऐसा लगता है कि लेखक अपनी डायरी में कुछ भी व्यर्थ नहीं लिखना चाहता। वही लिखता है, जिसकी सार्थकता हो सकती है या बनी रह सकती है। ऐसा लगता है कि लेखक अपने तईं ईमानदार है। डायरी में वह इस बात का भी जिक्र करता चलता है, जो उसके जीवन के स्याह पक्ष को उद्‌घाटित करता है। स्याह पक्ष का यह उद्‌घाटन पाठक वर्ग को इस बात से वाकिफ करता भी चलता है कि जीवन में हमेशा फूल-ही-फूल नहीं होते! कहें तो जीवन का ज्यादा समय स्याह पक्षों से ही भरा होता है। यह सिर्फ लेखक के जीवन की ही बात नहीं है, वरन् समूचे उस जनमानस की बात

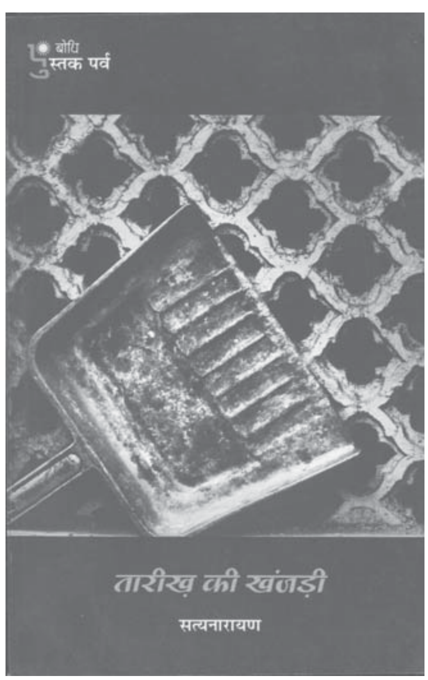

है, जो समाज के लिए कुछ करने को सोचता है। जो अपने तईं, अपने राष्ट्र के प्रति समर्पित है, जिसके मन में राष्ट्रीय भावना विद्यमान है, उसे यदि अपना आज का दिन सड़कों पर भी व्यतीत करना पड़े तो उसे कोई परेशानी नहीं होती।

व्यक्ति अपने स्याह पक्षों को लिए भी जी रहा होता है; तब भी वह उस धुंधले उजाले की ओर जाना नहीं भूलता, जो उसके लिए धुंधलका होने के बावजूद उजाले को साथ लाता है। ''कोई भी ऐसा नहीं शहर में, जहां जाकर रो सकूं। सोचा एक बार...को देख लूं, कितनी तो मिलती है उर्मि से।'' (उप., पृ. सं. 11)।

अपनी बातों को डायरी लेखन जैसी विधा में समोने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसमें ठहराव भी लाया जाए। लगातार डायरी लेखन में यह संभावना रहती है कि वह कहीं बोरियत न पैदा करे। शायद कुछ ऐसा ही सोचकर लेखक ने इस बात की ताकीद की कि ''एक लंबे अंतराल के बाद छू रहा हूं डायरी।'' (उप., पृ. सं. 11)।

जीवन अपने मोहपाश में स्वयं को और जीवन जी रहे दूसरे मनुष्यों को भी बांधता चलता है। लेखक की नजर में ''जीवन एक यातना है और यह यातना तब तक झेलनी है, जब तक कि आदमी मर नहीं जाता।'' (उप.)। अंग्रेजी कवि मिल्टन ने भी लिखा— 'डेथ इज द बेस्ट मेडिसीन।'

जीवन को यातना कहने का अभिप्राय है कि लेखक अपने जीवन में किन-किन कष्टों से होकर गुजरा है। लगता है उसके जीवन में कष्टों का ही गुंजलक विद्यमान है। उसने अपने जीवन में उजाला देखने की जो चाह पैदा की है, वह गोया चाह ही बनी रही।

उसका जीवन स्याह धुंधलकों से भरा है, इसी की वजह से उसे जीवन यातना दिखाई दे रहा है। शायद यही मनुष्य जीवन का सच भी है। मनुष्य चाहे कितना भी अपने जीवन में उजाले की बात करे, वास्तविकता यही होती है कि जीवन का बड़ा हिस्सा स्याह धुंधलकों में ही बीतता है। जीवन जीना तो दूर रहा, जीवन जीने की योजना बनाने में ही मनुष्य अपना समय नष्ट कर देता है। इसी डायरी में उद्धृत चेखव के इस कथन से उक्त बातों की गंभीरता का पता चल सकता है, ''मेरा अनुभव है कि जीवन में दर्द और पीड़ा का अहसास ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।...मनुष्य के वेदना और दर्द भरे जीवन में कलात्मक सत्य या लय के स्वर में ढूंढ़ पाना एक मुश्किल काम है। (उप., पृ. 12)।

यह किसी उस व्यक्ति के लिए विचित्र स्थिति है, जो स्थितियों-परिस्थितियों का दास बनकर जीना नहीं चाहता। जिसने अपने जीवन की सार्थकता को समझा है, लेकिन ऐसा समझकर भी वह परिस्थितियों के साथ 'एडजस्ट' करने को जैसे अभिशप्त हो! ''मैं ऐसे ही रहना चाहता हूं। ऐसे रह भी नहीं सकता। क्या करूं? लिखूं? जिऊं? क्यों जिऊं?'' (उप., पृ. सं. 13)।

जीवन तलाश रूपी यात्रा है और यात्रा को भरपूर जीने का नाम ही जीवन है। यात्रा में व्यक्ति एक-दूसरे से मिलता है, बिछुड़ता और फिर मिलने की चाह में हमेशा चकरघिन्नी की तरह चक्कर काटता रहता है। व्यक्ति जिसकी तलाश में होता है, लगता है उसे वह आसानी से मिल जाएगा। इसी उम्मीद में व्यक्ति का जीना जारी रहता है, भले ही उसकी उम्मीद पूरी हो अथवा नहीं, यह दीगर बात है। ''सुख की तलाश—एक नींद में तुम दौड़ते हो, लगता है अभी छू लोगे, पर छूने वाले होते हो कि तुम थक जाते हो, हांफते हुए और वह दूर निकल जाता है। यात्रा फिर शुरू होती है। बीच में वह फिर तुम्हें छूता है और तुम आंखें खोलकर पीछे मुड़ते हो कि वह फिर छूट जाता है पकड़ से और एक दिन तुम्हें लगता है कि यात्रा समाप्त और तुम मर जाते हो।'' (उप., पृ. सं. 13)।

''एक व्यक्ति की हैसियत से भोगते हुए जिन दुखों से हम गुजरते हैं, स्मरणीय ये दुःख नहीं हो सकते। स्मरणीय होती है वह

मानवीय करुणा और संवेदनशीलता, जिसका साक्षात्कार हमें इन दुखों से गुजरते हुए होता है।'' (पृ. सं. 17)। —शैलेश मटियानी

आज जीवन में जो पाने...पाने...और पाने की होड़-सी लगती है, क्या वह पाना है? या पाकर भी रिक्त रह जाना? लेखक ऐसा ही सवाल करता है, ''क्या सब कुछ पाने के बाद भी आदमी रिक्त ही नहीं रहता?'' (उप., पृ. सं. 19)। कहा जाए कि पाना क्या है, इसकी कोई निश्चित परिभाषा भी तो नहीं है और जो निश्चित नहीं है, उसे पाना कैसे कहा जा सकता है? व्यक्ति आज सब कुछ पा लेने की जिस होड़ में लगा है, उसके लिए अपना सारा कुछ दांव पर लगाने को उतावला है, तो क्या यह उतावलापन पाकर भी कुछ न पाने की तरह हमें आकृष्ट नहीं कर रहा? ऐसे ही कुछ प्रश्न अनसुलझे हैं, जो लेखक के साथ-साथ व्यक्ति को भी मथ रहे होते हैं।

व्यक्ति के जीवन में संबंधों का ताना-बाना भी बड़ा अजीब होता है। इतना अजीब कि आप उस संबंध को 'अपना' समझने की भूल कर बैठते हैं और इसी 'अपने' की भूल की वजह से आप टूटते हैं, बिखरते चले जाते हैं और आपके साथ अंततः कोई बचा नहीं रह पाता। ''संबंधों और मित्रताओं को लेकर हमें लटूमना नहीं होना चाहिए। यदि लगे कि इनमें कोई अर्थ नहीं रहा तो धीरे-से आगे बढ़ जाना चाहिए। मैं भी लगातार संबंधों और मित्रों को लेकर लटूमना रहा हूं, पर जैसे कुछ नहीं। अंततः आप एक अकेले हैं, अपने दुख के आप भागीदार।'' (उप., पृ. सं. 25)।

लेखक जीवन की आपाधापी से जितना चिंतित, दुखी है : उससे कुछ कम दुखी नहीं साहित्य में छाई आपाधापी के लिए। यदि साहित्य में वही आपाधापी व्याप्त है तो फिर साहित्य और दूसरे व्यवसाय में फर्क क्या है? यदि अपना साहित्य भी ऐसी ही आपाधापी से परिव्याप्त है, तो फिर यह दूसरे व्यवसायों से किस रूप में भिन्न है? और यदि भिन्न नहीं है तो इसके सामाजिक सरोकारों का कितना भला होने वाला है? ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जिनसे लेखक के साथ-साथ पूरा समाज वाबस्ता है।

पूरी डायरी में लेखक अपनी ईमानदारी के साथ-साथ उस पूरे परिदृश्य पर विचार करता चलता है, जो जीवन की आपाधापी में या तो खो चुका होता है या फिर खोने की हालत में होता है, क्योंकि जीवन में 'खोना' ही अधिक होता है, बनिस्बत पाने के।

लेखक प्रेम के उस एक क्षण को संजो लेना चाहता है, जिसकी आहट मात्र से रोम-रोम 'हरिया' जाता है, ''रेगिस्तान में रेत के धोरों पर उगने की आस में डाले बीज की तरह।'' (उप., पृ. सं. 96)

लेखक प्रेम के उपजने वाले एक ऐसे क्षण को उद्घाटित करने के लिए दूधनाथ सिंह के एक वक्तव्य को उकेरता है, जिससे प्रेम की महत्ता साकार हो उठती है और इसी साकार हुई महत्ता के साथ जिंदगी की उधेड़बुन में लिपटती चलती प्रेम की वीरानी और रवानगी दोनों प्रकटित हो आती हैं। ''प्रेम में अपवित्र और मैला-कुचैला होना पड़ता है। प्रेम में अपने व्यक्तित्व को झुकाना और छोटा करना पड़ता है। भूलना पड़ता है—इज्जत-आबरू, घर-द्वार, कविता-कला, खान-पान, जीवन-मरण, ध्येय, उच्चताएं-महानताएं—सब धूल में मिल जाती हैं। तब मिलता है प्रेम और मिलते ही उसका खोना शुरू हो जाता है। प्रेम क्षणों में ही नवजात, सुंदर और अप्रतिम रहता है, फिर भी उस प्रेम को पाने के लिए होल टाइमर होना पड़ता है।'' (उप., पृ. सं. 95)

'तारीख की खंजरी' (डायरी)/सत्यनारायण/बोधि प्रकाशन, एफ-77, सेक्टर-9, रोड नं. 13, करतारपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-302006/ मूल्य : ₹ 10

द्वारा श्रीयुत् श्रीकांत झा (आशा निवास), पथ सं. 14-ब, राजीव नगर, पटना-800024,
मो. 09386979711,
ई-मेल : kumarneelabh21@gmail.com

गोयनका के प्रेमचंद

मधुरेश

कमलकिशोर गोयनका बहुत जिद्दी और लागू किस्म के शोधार्थी हैं। इसके बिना शोध जैसा नीरस-उबाऊ और जमकर बैठने वाला काम शायद होता भी नहीं। प्रायः चार दशकों से बहुत जुनूनी भाव से वे प्रेमचंद पर काम करते रहे हैं। उनके इस परिश्रम और प्रयासों के परिणामस्वरूप प्रेमचंद की बहुत-सी ऐसी सामग्री प्रकाश में आ सकी, जो उर्दू-हिंदी पत्रिकाओं में दबी-बिखरी पड़ी थी और शायद वहीं दबी रहकर समाप्त हो जाती। प्रेमचंद के उपन्यासों की शिल्पविधि पर अपने औपचारिक शोधकार्य से गोयनका ने यह काम शुरू किया और फिर वे उन पर निरंतर काम करते रहे हैं। दो खंडों में प्रेमचंद के अप्राप्य साहित्य के संकलन-संपादन के अतिरिक्त भी उन्होंने प्रेमचंद के जीवन सहित अनेक क्षेत्रों में काम किया है। अमृतराय की तरह वे हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं के जानकार हैं, जिसके बिना प्रेमचंद पर कोई काम कायदे से नहीं हो सकता। अपने इस काम से गोयनका को नाम और नामा भी खूब मिला है।

आज से दो दशकों से भी पूर्व जब गोयनका द्वारा संकलित-संपादित 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' पर शानी के आग्रह पर, साहित्य अकादेमी की ही तब त्रैमासिक रही पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' में लिखा था, मैंने प्रेमचंद के प्रति एक आलोचक और शोधकर्ता के रूप में उनकी दृष्टि और रवैये का सवाल उठाया था। अमृतराय ने सन् 1957 से '62 तक पांच वर्ष लगाकर प्रेमचंद पर अनौपचारिक रूप में जो शोधकार्य किया था और जिसके परिणामस्वरूप 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' जैसी हिंदी की कालजयी जीवनी ही नहीं, हिंदी-उर्दू की पत्रिकाओं में दबा पड़ा प्रेमचंद का ढेर सारा साहित्य भी नए सिरे से प्रकाश में आया था। गोयनका को बेशक यह श्रेय जाता है कि उसके बाद भी उन्होंने अमृतराय की इस परंपरा को आगे बढ़ाया, लेकिन अपनी उसी समीक्षा में मैंने अमृतराय और गोयनका के इस काम में बुनियादी अंतर की ओर संकेत करते हुए प्रेमचंद के प्रति गोयनका की हार्दिक निष्ठा और रवैये का सवाल उठाया था। अमृतराय बेशक गोयनका से अधिक सुविधाजनक स्थिति में थे। प्रेमचंद अमृतराय के पिता थे। भले ही उनके निधन के समय अमृतराय की उम्र तेरह वर्ष रही हो, प्रेमचंद के निजी अनुभवों एवं स्मृतियों के अतिरिक्त भी वह ढेर सारी सामग्री उनके अपने घर और परिचितों-संबंधियों के पास ही थी, जिसका व्यापक उपयोग उन्होंने प्रेमचंद संबंधी अपने काम में किया और जिसके अभाव में उस काम की दुश्वारियों को आसानी से समझा जा सकता है। गोयनका इस अभाव को प्रेमचंद के प्रति अपनी आत्मीय और हार्दिक निष्ठा से ही पूरा कर सकते थे। विष्णु प्रभाकर और विष्णुचंद्र शर्मा को क्रमशः शरच्चंद्र और काज़ी नज़रूल इस्लाम की जीवनियों 'आवारा मसीहा' और 'अग्नि सेतु' पर भाषा और भूगोल की जो बाधा थी, प्रेमचंद के प्रसंग में वह गोयनका के साथ नहीं थी। अपनी इस समीक्षा में मैंने लिखा था, 'गोयनका की सबसे बड़ी परेशानी उन मार्क्सवादी आलोचकों से है, जिन्होंने लंबे आलोचनात्मक संघर्ष के बाद प्रेमचंद की एक प्रगतिशील मूर्ति गढ़ी है। नहीं तो हिंदी में अवध उपाध्याय-इलाचंद्र जोशी से लेकर नंददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र तक प्रेमचंद के प्रति निषेधात्मक रवैया अपनाने वाले लोगों की कमी नहीं रही है। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' की अपनी लंबी भूमिका में भी कमलकिशोर गोयनका की सारी कोशिश प्रेमचंद की इसी छवि को ध्वस्त करने की है। यह और भी दुर्भाग्यपूर्ण इसलिए है, क्योंकि ऐसा वह प्रेमचंद को 'समग्रता' में देखे जाने के अपने शरारतपूर्ण आग्रह के साथ करते हैं...' (और भी कुछ, संस्करण 2002, पृ. 47)

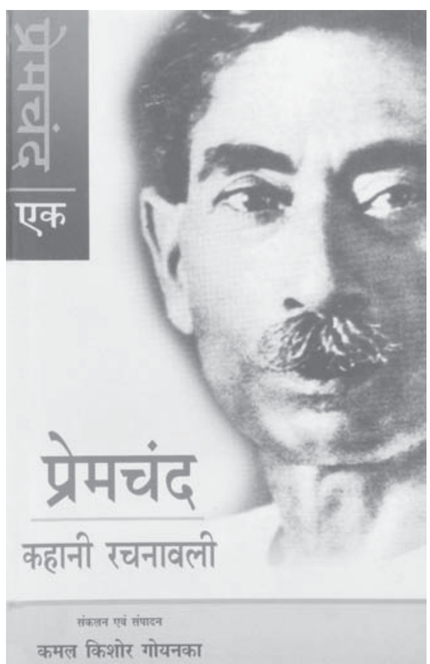

शोध और मौलिकता के नाम पर शुरू से ही गोयनका का पूरा ज़ोर इस बात पर रहा है कि प्रेमचंद के मरते समय बनारस बैंक में 4471 रुपये 5 आने और 11 पाई की राशि उनके खाते में थी और इलाहाबाद बैंक में 203 रुपये 8 आने और 8 पाई थी। प्रेमचंद के कर्ज़, देनदारियों और आर्थिक संघर्ष की ओर से उदासीन बने रहकर अपनी इस 'खोज' का उल्लेख गोयनका गहरे मिशनरी उत्साह से करते हैं। वे उनके खातों के नंबर देना भी नहीं भूलते। रामकटोरा बाग के पुराने मकान में, लोनी लगी और प्लास्टर झड़ी दीवारों वाले कमरे में, बांस की खाट पर लेटे प्रेमचंद के अंतिम दिनों को वे जानबूझकर याद नहीं करना चाहते। कुछ पत्रों के हवाले से गोयनका यह भी साबित करते हैं कि प्रेमचंद अपनी रचनाओं पर 25 प्रतिशत तक रायल्टी लेते थे

और संपादकों पर रचनाओं का पारिश्रमिक बढ़ाने का दबाव बनाते थे।

कमलकिशोर गोयनका द्वारा संपादित और साहित्य अकादेमी द्वारा छह खंडों में प्रकाशित 'प्रेमचंद कहानी रचनावली' के प्रसंग में भी प्रेमचंद संबंधी गोयनका के इस रवैये को दृष्टि में रखना उपयोगी होगा। इस बात के लिए गोयनका की प्रशंसा की जानी चाहिए कि गहरे और अबाध अध्यवसाय से उन्होंने पिछले चार दशकों में प्रेमचंद की बहुत-सी दुर्लभ और लुप्तप्रायःसामग्री को सामने लाने का प्रयास किया है, भले ही उसमें बहुत-सी चीजों में दिखावे और प्रदर्शन का भाव ही अधिक है। बहुत-सी पूर्व उपलब्ध चीजों को भी 'समग्रता' और एक ही स्थान पर उपलब्धता के तर्क से वे इस सामग्री का आकार बढ़ाते हैं।

इस 'प्रेमचंद कहानी रचनावली' में भी पहली बार उन्होंने काल-क्रमानुसार प्रेमचंद की उर्दू-हिंदी कहानियों की सूची तैयार की है, जिसके अनुसार प्रेमचंद की कुल जमा 301 कहानियों की सूचना मिलती है। अमृतराय की तरह अब भी वे इस संभावना को पूरी तरह निरस्त नहीं करते कि सारे स्रोतों के दोहन और अन्वेषण के बावजूद अब भी उनकी कुछ और चीजें मिल सकती हैं। उनकी और उनसे पहले अमृतराय की सारी कोशिशों के बावजूद 'किशना' अब भी मिला नहीं है। 'प्रेमचंद कहानी रचनावली' के इन छह खंडों में गोयनका ने प्रेमचंद की 301 में से 298 कहानियां संकलित की हैं। तीन कहानियां अब भी सूचना के बावजूद उपलब्ध नहीं हैं। कहानी के प्रथम प्रकाशन को ही गोयनका ने कहानी के काल निर्धारण का आधार बनाया है, चाहे वह उर्दू में हो या हिंदी में। कहानी के पहले प्रकाशन के पाठ को ही उन्होंने कहानी का पहला पाठ मानकर इस रचनावली में शामिल किया है। अपनी कार्यनीति को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, 'प्रेमचंद की कहानियों के बारे में यह एक बड़ा सत्य है कि कहानी-संग्रहों में आने से पहले वे किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका में छप चुकी थीं। अतः ऐसी सब कहानियों का प्रकाशन-काल वही हो सकता है, जो पत्रिकाओं में छपने का समय है, न कि कहानी-संग्रहों में प्रकाशित होने का। यहां हमें सिद्धांततः यह मानना उचित होगा कि कहानी जिस भाषा में भी पहले छपी, हिंदी में या उर्दू में, मूलतः वही तिथि उसके प्रकाशन की तिथि मानी जाएगी और वह तिथि समान रूप से हिंदी तथा उर्दू कहानियों की चर्चा में स्वीकार की जाएगी। इससे हिंदी तथा उर्दू कहानी का भेद मिटेगा तथा कहानी-यात्रा के विकासक्रम को एक वैज्ञानिक आधार मिल सकेगा और साथ ही हम अवैज्ञानिक निष्कर्षों से बच सकेंगे...' (प्रेमचंद कहानी रचनावली, खंड-1, भूमिका, पृ. 22)

कमलकिशोर गोयनका ने इस बात का भी खंडन किया है कि प्रेमचंद हिंदी नहीं जानते थे। जब वे उर्दू में कहानियां लिखते थे, तब भी उन्होंने देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' को हिंदी में पढ़ा था, लेकिन भाषा के पढ़ने और लिखने में जो अंतर होता है, गोयनका उसकी ओर ध्यान नहीं देते। सन् 1925 में गंगा पुस्तक माला, लखनऊ से प्रकाशित 'रंगभूमि', जहां प्रेमचंद सौ रुपये माहवार पर साहित्य सलाहकार के रूप में कार्यरत थे, का संपादन बाबू शिवपूजन सहाय ने किया था और उनके उस संपादन में भाषागत संशोधन-परिष्कार भी शामिल था। रचना को उर्दू लिपि में लिखकर उसे हिंदी रूप देने (स्वयं या अपने मित्रों द्वारा) का सिलसिला बहुत बाद तक चलता रहा था। उपन्यासों के विस्तृत नोट्स वे प्रायः ही अंग्रेजी में लेते थे और इसमें उन्हें सुविधा होती थी।

'प्रेमचंद कहानी रचनावली' के छहों खंडों की कुल मिलाकर जो भूमिकाएं कमलकिशोर गोयनका ने लिखी हैं, वे 267 पृष्ठों को घेरती हैं, यानी यह सामग्री स्वतंत्र रूप से प्रकाशित होने पर स्वयं एक पुस्तक के बराबर है। इस सामग्री को मोटे तौर पर दो हिस्सों में बांटकर देखा जा सकता है। एक हिस्से में यदि गोयनका प्रेमचंद के लेखन और कहानी संबंधी अनेक जरूरी या फिर सामान्य कोटि की सूचनाएं देते हैं तो दूसरी ओर वे अलग-अलग खंडों में सम्मिलित कहानियों का विश्लेषण करते हुए न सिर्फ सब कहीं अपने आलोचनात्मक निष्कर्ष देते हैं, बहुत उत्साहपूर्वक प्रेमचंद के उन आलोचकों की पुनर्प्रतिष्ठा का आग्रह भी दिखाते हैं, जो प्रेमचंद के मूल्यांकन के प्रसंग में आज पूरी तरह अप्रासंगिक भी मान लिए जा चुके हैं। इस प्रक्रिया में वे सब कहीं मार्क्सवादी आलोचकों के निषेध और नकार की मुद्रा में खड़े दिखाई देते हैं।

इन भूमिकाओं में दी गई जरूरी और और उपयोगी सूचनाओं से ही बात शुरू की जा सकती है। गोयनका प्रेमचंद के पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं कि उर्दू में प्रेमचंद ने बेशक मुंशी नवाब राय के नाम से अपना लेखन उपन्यासों से शुरू किया, कहानियों से नहीं। 'सोज़ेवतन' की कहानियां लिखे जाने से पूर्व, जिसकी शुरुआत सन् 1907 में हुई, प्रेमचंद के कई उपन्यास छप चुके थे। इसके अतिरिक्त वे सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर टिप्पणियां भी लिखते थे। 'सोज़ेवतन' की ज़ब्ती पर मिली प्रशासनिक चेतावनी के बाद अपने मित्र और 'ज़माना' के संपादक मुंशी दया नरायन निगम के सुझाव पर ही उन्होंने 'प्रेमचंद' नाम अपनाया और इस नाम से उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी', 'ज़माना' के ही दिसंबर, 1910 के अंक में प्रकाशित हुई। इसी तरह हिंदी में उनकी पहली कहानी गणेश शंकर विद्यार्थी के साप्ताहिक 'प्रताप' के विजयदशमी अंक में छपी 'परीक्षा' थी—अक्तूबर, सन् 1914 में। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी पहली कहानी 'सौत' थी, जो दिसम्बर, 1915 के अंक में छपी थी। 'सरस्वती' में ही प्रकाशित 'पंच परमेश्वर' का स्वयं प्रेमचंद द्वारा दिया गया मूल शीर्षक 'पंचों में ईश्वर' था। पत्रिका के संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहानी में भाषागत परिष्कार के साथ उसके शीर्षक में भी परिवर्तन किया था। जिस नाम से कहानी छपी और प्रसिद्ध हुई, वह 'पंच परमेश्वर' उन्हीं का दिया शीर्षक था। 'दो भाई' कहानी सन् 1916 में पहले उर्दू में छपी। तब उसमें भाइयों के नाम किशन और बलराम थे। पाठकों के दबाव और प्रतिवाद पर हिंदी में प्रकाशित कहानी में भाइयों के नाम बदलकर केदार और माधव कर दिए गए थे। (पृ. 16/2) उर्दू पाठकों को इस बात पर आपत्ति थी कि कृष्ण और बलराम जैसे पौराणिक पात्र, जो भाइयों में गहरी आत्मीयता और पारस्परिक निष्ठा के लिए जाने जाते हैं, कहानी में शत्रुता एवं विरोध के प्रसंग में लाए गए हैं।

इसी तरह गोयनका यह भी बताते हैं कि अपने संबंध में प्रेमचंद द्वारा दी गई सूचनाएं भी सदैव विश्वसनीय और प्रामाणिक नहीं हैं। अपने पत्रों में या अन्यत्र एक ही बात को लेकर वे अलग-अलग सूचनाएं देते हैं। अपनी पहली कहानी के रूप में प्रेमचंद अपने कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रतन' (1907) का उल्लेख करते हैं, जबकि गोयनका के अनुसार 'सांसारिक प्रेम और देशप्रेम' (1908)

उनकी पहली कहानी थी, जो 'ज़माना' में 'इश्के दुनिया और हुब्बे वतन' नाम से प्रकाशित हुई थी। इसी क्रम में कहानी का उल्लेख किए बिना गोयनका यह सूचना भी देते हैं कि सन् 1928 में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने प्रेमचंद की एक कहानी का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया था। एंड्रूज द्वारा इसके भाषिक परिष्कार के बाद इसका प्रकाशन 'माडर्न रिव्यू' में हुआ था। इसी वर्ष राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने 'तारा' का अनुवाद 'एक्ट्रेस' शीर्षक से 'लीडर' में किया था। यही वस्तुतः वह दौर था, जब प्रेमचंद की ख्याति हिंदी जगत् के बाहर जानी शुरू हुई थी।

सन् 1928-29 में जर्मन में ताराचंद राय और जापानी में केशोराम सब्बरवाल द्वारा 'मर्यादा की बेदी', 'मुक्ति मार्ग', 'यन्त्र' आदि कहानियों का अनुवाद वहां की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। प्रेमचंद की इस बढ़ती हुई ख्याति के कारण ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे लोग चाहते थे कि उन्हें शांतिनिकेतन बुलाकर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मिलवाया जाए। ऐसा एक लिखित प्रस्ताव प्रेमचंद को मिला भी था, लेकिन अपने गंवई संकोच और रवीन्द्रनाथ की अभिजात्य जीवन-शैली को देखते हुए वे अपने को इसके लिए कभी तैयार नहीं कर सके। अपने इस आंतरिक अवरोध को छिपाने के लिए कभी वे आर्थिक तंगी का सहारा लेते हैं, कभी घर-परिवार के साथ न निकल पाने की असमर्थता के देखते स्वयं अपने निकलने की व्यर्थता की बात भी करते हैं। प्रेमचंद की कमजोर नस के रूप में उनके संकोच को पकड़ गोयनका सही जगह उंगली रखते हैं। निकलने और ज़्यादा घूमने-फिरने की आदत वैसे भी उन्हें नहीं थी। पचास वर्ष की आयु में जैनेन्द्र के बुलावे पर वे पहली बार दिल्ली गए थे। बाद में सुविधा होने पर भी इस कारण वे यात्राओं से बचने की कोशिश करते थे, क्योंकि इससे उनका नियमित काम बाधित होता था।

कमलकिशोर गोयनका की इन भूमिकाओं का सबसे विवादास्पद हिस्सा प्रेमचंद के मूल्यांकन से संबंधित है। प्रायः सब कहीं मार्क्सवादी आलोचकों को गरियाते हुए वे अपनी पूर्व निर्मित स्थापनाओं को ही दोहराते हैं। वे इन स्थापनाओं को सिरे से खारिज करते हैं कि सन् 1930 के बाद प्रेमचंद में महात्मा गांधी के विचार-दर्शन से कैसा भी मोह भंग होता है और वे मार्क्सवाद की ओर तेजी से बढ़ते हैं। सन् 1919 में जब प्रेमचंद अपने बोल्शेविक उसूलों के कायल होने की घोषणा कर रहे थे और 'ज़माना' में 'पुराना ज़माना : नया ज़माना' शीर्षक लेख लिख रहे थे, तब भी गोयनका के अनुसार, 'प्रेमचंद पर गांधी का इतना गहरा प्रभाव है कि बोल्शेविक प्रभाव धूमिल होता जाता है और उनका साहित्य गांधीवाद का साहित्यिक संस्करण बनकर लोक-मानस पर छा जाता है। इस प्रकार बोल्शेविक उसूलों का कायल लेखक गांधी के अहिंसक महासमर का संवाहक बनता है और प्रेमशंकर, सूरदास, चक्रधर, अमरकांत जैसे पात्रों की सृष्टि करके गांधीयुग के साहित्य को गांधीमय बनाते हुए अहिंसा, सत्याग्रह, कर्मण्यता, स्वतंत्रता, सरलता, निर्भीकता, सिद्धांत एवं आदर्शमयता, त्याग-तपस्या-बलिदान एवं राष्ट्र का पुंजीभूत रूप बना देते हैं' (प्रेमचंद कहानी रचनावली-6, भूमिका, पृ. 22) प्रेमचंद के जिन नायकों का उल्लेख वे करते हैं, उनमें से चार में से तीन सन् '30 के पहले के उपन्यासों के हैं। आज से कोई तीस वर्ष पहले मैंने 'गोदान और आदर्शवाद' शीर्षक से एक लेख मार्कंडेय और सत्यप्रकाश मिश्र के संयुक्त संपादन में प्रकाशित पुस्तक 'गोदान का महत्त्व' में लिखा था। प्रेमचंद अंततः आदर्शवाद से मुक्त नहीं होते, लेकिन इससे यथार्थवाद की दिशा में किया गया निर्णायक संघर्ष कम नहीं हो जाता। और भी मज़े की बात यह है कि समाजवाद में न्याय और भेदभावहीन समतावादी समाज की स्थापना के श्रेय के लिए प्रेमचंद के विचारों पर गोयनका मार्क्स से अधिक इस्लामी सभ्यता और खासकर पैगम्बर हज़रत मुहम्मद का प्रभाव देखते हैं। यह छिपा नहीं है कि गोयनका की मातृसंस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का रवैया इस्लाम और स्वयं महात्मा गांधी के प्रति क्या और कैसा है। अपनी इस भूमिका में वे कहीं 'मंगलसूत्र' का जिक्र नहीं करते, जिसमें शत्रुओं से निपटने के लिए चोंच-पंजे पैने करने की बात प्रेमचंद करते हैं। प्रेमचंद के अंतिम दौर में लिखित उनके 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक लेख की स्थापनाओं को भी गोयनका पंजों के बल बार-बार उचककर नोचने की कोशिश करते हैं। उनका बस चले तो वे उसके अस्तित्व को नकारने की कोशिश में भी कोई संकोच नहीं बरतते।

प्रेमचंद की 'भारतीयता' और 'हिंदू' जैसी अवधारणाओं की मनमानी व्याख्या करके गोयनका आडवाणी और नरेन्द्र मोदी की स्थापनाओं एवं कृत्यों का जैसे प्रेमचंद से समर्थन जुटाते दिखाई देते हैं। मार्क्सवाद के चश्मे से प्रेमचंद के मूल्यांकन का विरोध करते हुए कमलकिशोर गोयनका सब कहीं कथित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के चश्मे से प्रेमचंद का मूल्यांकन करते हैं। प्रेमचंद द्वारा ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति और महंगी शिक्षा के विरोध में वे गुरुकुल की शिक्षा का समर्थन जुटाने की कोशिश करते हैं। बेशक एक दौर में प्रेमचंद बाकायदा आर्यसमाज के सदस्य और उत्साही समर्थक थे, लेकिन जल्दी ही वे आगे बढ़ जाते हैं। आर्यसमाज का गहरा प्रभाव राहुल सांकृत्यायन और यशपाल पर भी था, लेकिन ये लोग अपने अंतिम विश्लेषण में आर्यसमाज को क्या समझते हैं और किस रूप में देखते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। वीर भारत तलवार ने 'रस्साकशी' में स्पष्ट लिखा है कि आर्यसमाजी संस्थानों में ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाएं लगती थीं।

प्रेमचंद की 'भारतीयता' के सवाल पर 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' में अमृतराय ने अपनी कठिनाई का उल्लेख किया है। वे प्रेमचंद की इस विस्तृत और कालजयी जीवनी को तभी लिख सके, जब प्रेमचंद के जीवन को भारत के व्यापक फलक पर फैलाकर देखे जाने का सूत्र उन्हें मिला। गोयनका तर्क देते हैं कि 'महाजनी सभ्यता' का वैचारिक प्रतिफलन प्रेमचंद की परवर्ती और अंतिम दौर की कहानियों में कहीं दिखाई नहीं देता। इसी आधार पर वे प्रेमचंद को गांधीवादी साबित करने की कोशिश करते हैं, जबकि अंतिम दौर की उनकी कहानियां, गोयनका के तर्क के अनुसार ही, गांधी को 'देवता' मानने के बावजूद गांधीवाद के प्रभाव का वैचारिक प्रतिफलन कहां और कैसे हैं? अपने इस अंतर्विरोध के बचाव में गोयनका तर्क देते हैं, 'गांधी किसानों के एकमात्र नेता हैं और दलितों के मसीहा हैं और हरिजनों के लिए वे अनेक कार्यक्रम शुरू करते हैं, लेकिन उनकी इस कालावधि की कहानियों में उनका ऐसा कोई प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता और न इस अवधि में लिखे गए उपन्यास 'गोदान' में भी देश की राजनीतिक हलचलों तथा हरिजन-कल्याण के कार्यक्रमों के लिए कोई स्थान है। प्रेमचंद की इस उदासीनता का एक ही कारण समझ में आता है कि गांधी की गिरफ्तारी और स्वयं को हरिजनोद्धार एवं 'हरिजन' समाचार पत्र के

कार्यों तक सीमित करने के कारण स्वराज्य के लिए राजनीतिक संघर्ष प्रायः पृष्ठभूमि में चला गया था, इसलिए प्रेमचंद राजनीति, गांव और दलितों की समस्याओं की ओर देखते तो हैं, लेकिन इस अवधि की कहानियों के परिदृश्य में ये प्रमुख नहीं हो पाती हैं।' (वही, पृ. 29/30) इसी तर्क के आधार पर गोयनका प्रेमचंद की विरासत के नाम पर मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा स्थापित उनकी क्रांतिकारी विरासत के बजाय 'क्रिकेट मैच' और 'सती' जैसी कहानियों के प्रतिपाद्य को ही उनकी विरासत घोषित करते हैं। अपने समर्थन में एक बार फिर वे नंददुलारे वाजपेयी और वैसे ही दूसरे आलोचकों की सहायता लेते दिखाई देते हैं, जो प्रेमचंद के प्रसंग में पूरी तरह अप्रासंगिक हो चुके हैं। इसी तरह अमृतराय के पांच वर्षों के सारे परिश्रम और वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन पर पानी फेरते हुए प्रेमचंद की रचनाओं की कुछेक तिथियों संबंधी शंकाओं के कारण अमृतराय के मुकाबले गोपालराय उन्हें बड़े आलोचक लगते हैं। मार्क्सवादी और दूसरे लेखकों को उन्होंने कितनी गंभीरता से पढ़ा है, इसका प्रमाण इसी से मिल जाता है कि रामविलास शर्मा द्वारा संपादित 'समालोचक' को वे 'समालोचना' लिखते हैं (1/51 भूमिका) और मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' का उल्लेख 'भारत दुर्दशा' के रूप में करते हैं। (वही, पृ. 55)

भारतीय जनता पार्टी के दौर में शैक्षिक और सांस्कृतिक संस्थानों पर कब्जे की प्रक्रिया में भारत भवन और साहित्य अकादेमी जैसी संस्थाओं में भी हिन्दुत्ववादी शक्तियों का वर्चस्व बढ़ा। बाद के वर्षों में वे बीज तेजी से अंकुआए और विकसित हुए हैं। इस दृष्टि से कमलकिशोर गोयनका जैसे लेखक-विचारक आज बहुत आदर्श और सुरक्षित स्थिति में हैं। 'प्रेमचंद कहानी रचनावली' गोयनका की ही नहीं, प्रकारांतर से साहित्य अकादेमी की भी वैचारिक नीति के एक प्रतिनिधि उदाहरण के रूप में हमारे सामने है।

'प्रेमचंद कहानी रचनावली' (छह खंड)/संकलन एवं संपादन : कमलकिशोर गोयनका/साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, 35, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली-110001/ मूल्य : ₹ 1500 (पूरा सेट)

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003 (उत्तर प्रदेश)
फोन (0581) 2554670, मो. 093198-38309

विकास के भ्रम

प्रेमपाल शर्मा

अधिकतर लोग सुभाष शर्मा को कथाकार के रूप में ज्यादा जानते हैं। शुरू में उन्होंने धुआंधार कविताएं और कहानियों लिखी भी हैं, लेकिन पिछले लगभग एक दशक में उनका एक प्रखर अकादमिक और पत्रकारीय रूप सामने आया है। तथाकथित भारत के विकास को मुंह चिढ़ाती शायद ही कोई समस्या हो, जिस पर उनके लेख देश के प्रमुख अखबार, पत्रिकाओं में नहीं देख जा सकते हों। सधी हुई भाषा, प्रामाणिक तथ्य और विकल्प देते निष्कर्ष। बिहार में लंबे अरसे तक वे शिक्षा विभाग में रहे हैं, इसलिए देश की शिक्षा की तस्वीर बदलने वाले दर्जनों लेख तो इधर आए ही हैं। खेती, किसानों की समस्याओं से लेकर जल संकट, खाद्य समस्या,बीज, पृथ्वी का तापमान और जनसंख्या वृद्धि जैसी समस्याओं पर भी उन्होंने खूब लिखा है।

इस बात पर बहस हो सकती है कि कहानियां, कविताएं लिखना बड़ी उपलब्धि है या ऐसे लेख, लेकिन सच्चा लेखक वही है, जो इन समस्याओं से भी मुंह न मोड़ता हो। प्रेमचंद, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ऐसे सैंकड़ों उदाहरण हैं, जिन्होंने कहानी-कविता को छोड़कर सीधे इन विषयों पर कलम चलाई है। मौजूदा वक्त में तो इसकी और भी ज्यादा जरूरत है, क्योंकि पिछले दिनों जैसे-जैसे विश्वविद्यालयों और स्कूलों में हिंदी पठन-पाठन और माध्यम भाषा के रूप में कम होती जा रही है, यदि इन विषयों पर हिंदी के लेखक सामने नहीं आए तो हिंदी का बौद्धिक जगत और दिवालिया लगने लगेगा।

'विकास का समाज शास्त्र' में पहले उन मुद्दों पर चर्चा करते हैं, जिनके लिए यह पुस्तक याद की जाएगी या प्रासंगिक बनेगी। मेरी नजर में एक बहुत महत्त्वपूर्ण लेख जनसंख्या वृद्धि पर है। पिछले तीस-चालीस वर्षों से जनसंख्या वृद्धि से हर विकास की जड़ें हिलने लगी हैं, लेकिन इसे रोकने के लिए सरकारी और गेर-सरकारी स्तरों पर कोई कदम उठाने की बात तो दूर रही, विचार-मंथन भी नहीं हो रहा। चीन के विकास, उसके कम्युनिज्म से पूंजीवाद व्यवस्था की ओर बढ़ते जाने से लेकर उदारीकरण तक न जाने क्या-क्या उदाहरण सारा देश देता है, लेकिन चीन ने जनसंख्या कैसे रोकी, इस पर सभी चुप्पी साध लेते हैं। सत्ता की तरफ से और उसके ढिंढोरची बुद्धिजीवियों की तरफ से इस चुप्पी के साफ कारण हैं। कहीं उनका वोट बैंक तो नहीं हिल जाएगा? न जाने उन्हें क्यों ऐसा भ्रम है कि जनसंख्या नीति से अल्पसंख्यक ज्यादा प्रभावित होंगे। एकदम गलत। दोनों समुदाय या कहिए दोनों समाजों की हालत और अंततः पूरे देश की हालत जनसंख्या वृद्धि से दांव पर है। इमरजेंसी के दिनों में कुछ अलोकतांत्रिक ढंग से जनसंख्या वृद्धि को रोकने के कदम उठाए गए थे।

ऐसा लगता है कि उस डर से सत्ता आज तक डरी हुई है, इतनी कि पिछले दिनों जब एक राज्य ने ऐसा कानून बनाया कि दो से अधिक बच्चों के माता-पिता चुनाव में भाग नहीं ले सकते तो कई बुद्धिजीवी इसके खिलाफ उठ खड़े हुए। अभी केरल राज्य ने फिर से कुछ कदम उठाए हैं और वहां भी वैसा ही विरोध हो रहा है। यह पुस्तक का बहुत महत्त्वपूर्ण लेख है। इसमें अल्फ्रेड मार्शल से लेकर माल्थस, जुलियन लिंकन साइमन की पुस्तक 'द अल्टीमेट रिसोर्स' के हवाले से दुनिया भर के विमर्श को सामने रखकर बात की गई है, आंकड़े, तालिकाएं और उनके विवेचन-विश्लेषण के साथ। अब वक्त आ गया है कि सरकार जब वास्तव में विकास का लाभ लोगों तक पहुंचाना चाहती है तो जनसंख्या नीति पर युद्धस्तर पर काम करने की जरूरत है। इतनी बड़ी आबादी तक विकास को ले जाना मामूली बात नहीं है।

एक और महत्त्वपूर्ण लेख दिल्ली विश्वविद्यालय की रसायन शास्त्र की लैब से कोबाल्ट के कचरे के विकिरण से हुई मौतों पर है। लेख में दिल्ली के मायापुरी से लेकर हर कोने में फैले प्रदूषण की एक-एक जानकारी उपलब्ध कराई गई है। विदेशों से बहुत सस्ती दरों पर यह कचरा आयात होता है और वैसे तो इस रेडियोधर्मी कचरे की इजाजत देश की सर्वोच्च संस्था भारत एटॉमिक रिसर्च सेंटर के माध्यम से प्रचालित होनी चाहिए, लेकिन जैसे इस देश का हर नियम टूटता है, वैसे ही इस धंधे में हो रहा है। नतीजा कभी गाजियाबाद के कचरे के विकिरण से लोग मरते हैं तो कभी मायापुरी में। ऐसे हादसों के विवरणों से गुजरना एक दुःस्वप्न से रूबरू होना है। लेखक का कथन सही है कि दिल्ली भारत के खतरनाक अवशिष्टों की राजधानी बन चुकी है। ये लेख एक समाजशास्त्र के साथ लेखक की वैज्ञानिक चेतना को भी सामने लाते हैं।

'सूचना का अधिकार' से संबंधित एक लेख भी पुस्तक में शामिल है। विशेषकर सूचना का अधिकार और पंचायतों के सशक्तिकरण के संदर्भ में। यह कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं कि 'सूचना का अधिकार' आजाद भारत के सबसे अच्छे कामों में कहा जाएगा। लोकतंत्र में आस्था रखने वाले कुछ धैर्य और हिम्मत से काम लें तो इसकी आंच में पूरा भारतीय लोकतंत्र सोने में बदल सकता है। लेखक बिहार के प्रशासन से जुड़े रहे हैं और इसमें पंचायतों, स्कूलों या पूरी व्यवस्था के भ्रष्टाचार की नस-नस भी समझते हैं। 'सूचना का अधिकार' वास्तव में उन्हीं लोगों को ताकत मुहैया करा रहा है और कराएगा। तंत्र से जुड़े हुए सरकारी कर्मचारी 'सूचना का अधिकार' से काम के बढ़ने का रोना रोते हुए जरूर झल्लाते नजर आएंगे, लेकिन वे भूल जाते हैं कि भ्रष्टाचार को रोकने का और सरकारी कर्मचारी की जवाबदेही का इससे बेहतर अस्त्र नहीं हो सकता।

पुस्तक में सबसे अधिक लेख खेती और किसानों की समस्याओं को लेकर हैं और यह बहुत अच्छी बात है। 'खतरे में खेती', 'भारत में खेती की समस्याएं', 'वृद्धि विकास और सरकारी नीतियां', 'जमीन किसान की : विकास दूसरों का'—विशेषकर ऐसे समय जब पिछले एक दशक से किसानों की आत्महत्या की खबरें लाखों तक पहुंच गई हैं।

शिक्षा सुभाष शर्मा का मूल सरोकार माना जा सकता है। शिक्षा पर उनकी एक और किताब भी आ चुकी है। 'उच्च शिक्षा की समस्याएं' लेख में उन्होंने आंकड़ों के साथ भारत में शिक्षा की बिगड़ती स्थिति का बयान किया है। दुनिया भर में हर दूसरे सर्वे का जिक्र इस अध्याय में है और सभी से यही निष्कर्ष निकलता है कि विश्व के उत्कृष्ट सौ विश्वविद्यालयों में भारत का एक भी नहीं है। आई.आई.टी. बंबई 187 पर है, तो आई.आई.टी. दिल्ली 202 पर, आई.आई.टी. कानपुर 249 पर। कला और मानविकी में भी हमारे विश्वविद्यालय उतने ही नीचे पायदान पर हैं। लेख का यह निष्कर्ष भी सही है कि शोध के मामलों में भी भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थिति बेहद चिंताजनक है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में शायद ही किसी भारतीय का कोई लेख मिले। इसी कारण पेटेंट भी बहुत कम हो रहे हैं। लेखक के इस अफसोस के साथ पूरा देश शामिल है कि विश्वविद्यालयों के गिरते हुए स्तर के बावजूद यू.जी.सी. ऐसे कदम नहीं उठाता, जिनसे इनकी मान्यता रद्द की जा सके। निष्कर्षों और सर्वेक्षणों की नीयत पर भी शक उठता है।

निष्कर्ष : शिक्षा में निजीकरण कोई रास्ता नहीं है। रास्ता है तो शिक्षा और स्वास्थ्य को हर हालत में सरकार अपने हाथों में ले और कड़ाई से अनुशासन बनाए। छठे वेतन आयोग के बाद तो स्कूल के शिक्षक से लेकर विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों को अच्छी तनख्वाह मिलती हैं। अब वे भूखे पेट का रोना नहीं रो सकते। फिर ऐसे शिक्षकों के स्कूल या कॉलेज न जाने को सरकार कड़ाई से क्यों नहीं लेती? बात को और खोला जाए तो क्या इस बात में कोई शुबहा रहता है कि शायद सरकार खुद शैक्षिक संस्थाओं को दुनिया के बाजार के लिए खोलने से पहले ही बरबाद करने पर आमादा है, वरना कोई कारण नहीं कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय और देश के सोलह केंद्रीय विश्वविद्यालयों समेत पूरी शिक्षा व्यवस्था को दुरुस्त न किया जा सके। विश्वविद्यालयों समेत पूरी शिक्षा व्यवस्था में अपनी भाषा के महत्त्व का पक्ष लेखक से छूट गया है।

तेईस अध्यायों की पुस्तक को दो भागों में प्रस्तुत किया गया है। एक सैद्धांतिक पक्ष और दूसरा व्यावहारिक पक्ष। पूरी पुस्तक की संकल्पना और सरोकारों के मद्देनजर ऐसे विभाजन की शायद कोई जरूरत नहीं लगती। कारण सभी लेखों में निम्नाधिक वही तथ्य विचार और निष्कर्ष, सिद्धांतों की पद्धति अपनाई गई है। सैद्धांतिक पक्ष शुरू के कुछ लेखों में जरूर पाठक के लिए भारी पड़ेंगे। हां, समाजशास्त्र के विद्यार्थी अध्यापकों के लिए विकास की अवधारणा और शक्ति संरचना जैसे लेख पूर्व पीठिका रूप में कहे जा सकते हैं। शुरू के इन अध्यायों में इतने आंकड़े दिए हुए हैं कि पाठक भटक भी सकता है, जबकि उन लेखों में जो किसी मौजूदा समस्या को सामने लेकर लिखे गए हैं, वे एक बौद्धिक गर्माहट के बावजूद पठनीयता बनाए रहते हैं।

खाद्य समस्या पर भी एक महत्त्वपूर्ण लेख पुस्तक में है और इसे विकास के प्रतिमान ठीक ही कहा गया है। बढ़ते बाजार की विडंबना देखिए कि ऊंची कीमत पर तरह-तरह के विज्ञापन 'एक खरीदो दूसरा मुफ्त' के आवरण में रोज भारतीय खाने की जगह पिज्जा, बर्गर, कांटीनेंटल सूप विज्ञापित किया जा रहा है और प्रति व्यक्ति 1961 में यदि आम आदमी साठ ग्राम दाल खाता था तो 2007 में उसे मात्र पैंतीस ग्राम मिलती है। वाकई यह भूख का विकास है। इस लेख में उत्सा पटनायक का कथन ठीक ही उद्धृत किया है कि भारत भूख का गणराज्य है। इस लेख में लेखक ने और विस्तार से बहुराष्ट्रीय

कंपनियों की पूरी कार्यप्रणालियां की चर्चा की है कि कैसे ये भारतीय दवाएं, भारतीय खाद्य सामग्री की कलमबद्ध ढंग से आलोचना करते हैं, जिससे जनता के पास उनकी दवाओं और खाद्य सामग्री के अलावा कोई विकल्प ही न रहे। हालांकि इस तर्क की रोशनी में यह भी सोचने की जरूरत है कि आखिर हम अपने असली माल को भी क्यों नहीं लोगों तक पहुंचा पाते। दुनिया भर में अपनी भाषाएं हर देश की प्राथमिकता हैं, लेकिन हम उसकी भी मार्केटिंग नहीं कर पाए। जल संकट, जलवायु परिवर्तन और कोपेनहेगेन में हुआ अंतर्राष्ट्रीय विमर्श भी पाठकों के लिए बहुत उपयोगी कहा जा सकता है। दरअसल सुभाष शर्मा बहुत अनुशासित लेखक हैं। इसमें जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के समाज शास्त्र विभाग में उनके अध्ययन और शोध का असर तो है ही, प्रशासन में लंबी यात्रा और मेहनत का भी है। केवल तभी इतने परिमाण और उत्कृष्टता के साथ वही लेखक लिख सकता है, जिसके मिशन में साहित्य एक समय काटने का शगल नहीं, बल्कि परिवर्तन का औजार है।

खटकने वाली बात कभी-कभी यह लगती है कि कुछ लेखों में, विशेषकर सैद्धांतिक पक्ष वाले लेखों में समस्या पर सीधे-सीधे पहुंचने के बजाय पाठक को शाब्दिक विवेचन से लेकर संस्कृत के कई श्लोकों से गुजरना होता है। यह लेखन की पुरानी पद्धति है, जो विद्यार्थियों के हिसाब से जरूरी मानी जाती थी। नई सदी का प्रबुद्ध पाठक तो रिपोर्ताज की तरह तुरंत मर्म और मकसद तक पहुंचना चाहता है। खेती, किसान की समस्याओं के लेखों में भी विचारों का दोहराव लगता है, लेकिन यदि घटना, परिघटनाएं अलग हों तो समस्याओं को सही रेखांकित करने के लिए दोहराव में भी कोई बुराई नहीं है। शिक्षा की समस्याओं को गिनते वक्त अपनी भाषा न जाने कैसे लेखक की निगाह से चूक गई है।

विकास का समाजशास्त्र/सुभाष शर्मा/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 300

96, कला विहार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-96, टेलीफोन नं. 22744596 (घर), 23387362 (कार्यालय)

टेलीविजन रिपोर्टिंग पर एक सार्थक पहल

राकेश शुक्ला

कभी-कभार ऐसा लगता है कि हमें किसी खास लक्ष्य को हासिल करने के लिए एक सधे हुए माध्यम का इंतज़ार रहता है। वाणी प्रकाशन से आई शैलेश और ब्रजमोहन की किताब स्मार्ट रिपोर्टर ऐसे ही किसी बहु प्रतीक्षित लक्ष्य को पाने जैसा सुकून है। 176 पृष्ठों वाली हार्ड बाउंड में कसी 17 अध्यायों की यह किताब लेखकद्वय द्वारा बहुत ही लगन और परिश्रम से तैयार की गई एक शानदार कृति है। हिन्दी में आमतौर पर ऐसी किताबों का घनघोर अभाव है। तकरीबन 50 करोड़ हिन्दी भाषी प्रदेश में न्यूज़ और मनोरंजन समेत कई विविध आयामों को समेटे लगभग 300 सैटेलाइट टेलीविज़न चैनल सक्रिय हैं, जिनमें सिर्फ हिन्दी न्यूज़ चैनलों की संख्या 100 से ज्यादा हैं। इनमें वो तमाम क्षेत्रीय चैनल भी शामिल हैं, जो प्रदेश विशेष को अपना फुट प्रिंट (देखा जाने वाला क्षेत्र) मानते हुए दर्शकों तक अपनी पहुँच बनाते हैं। इससे इतर, सिर्फ न्यूज़ चैनलों में काम करने वाले रिपोर्टरों-पत्रकारों, प्रोड्यूसर और न्यूज़ मैनेजमेंट से जुड़े लोगों की फेहरिस्त पर निगाह डालें तो ये संख्या सिर्फ दिल्ली में 5,000 से ऊपर होगी और समूचे उत्तर भारतीय हिन्दी प्रदेश में, अहमदाबाद, जयपुर और भोपाल से लेकर पटना, लखनऊ और रांची तक ये आंकड़ा 10,000 के पार चला जाएगा, लेकिन जिस उच्छृंखल तौर-तरीके से हिन्दी न्यूज़ बाज़ार का कारोबार चल रहा है, उसमें इस किताब की अहमियत कंटेंट को संभालने, सजाने और संवारने के लिहाज़ से बहुत ज्यादा है।

स्मार्ट रिपोर्टर का शिल्प और संयोजन शानदार है। जाहिर बात है, शैलेश जैसे दक्ष और अनुभवी पत्रकार के सैद्धांतिक और व्यावहारिक अनुभवों की झलक यहां साफ दिखती है। वे हिन्दी टेलीविजन पत्रकारिता जगत में उन चुनिंदा लोगों में हैं, जिन्होंने जयप्रकाश आंदोलन में हिस्सा लिया, उस ज़माने में पत्रकारिता की पढ़ाई की, लंबे समय तक प्रिंट पत्रकारिता के हिस्सा रहे और फिर 'आजतक' के शुरूआती दौर (एस.पी.-सुरेन्द्र प्रताप सिंह) में बुलेटिन के इकलौते प्रोड्यूसर होने का श्रेय उन्हें जाता है। इसलिए उन्होंने बहुत ही शिद्दत के साथ अपनी इस किताब के साथ न्याय करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। हम जैसे टेलीविज़न पत्रकारों को टीवी न्यूज़ की परिभाषा से उन्होंने अवगत कराया और एस.पी. के नेतृत्व में नक़वीजी (क़मर वहीद) और शैलेश ने भाषा को जिस तरह तराश कर अमलीजामा पहनाया; आज देश के बड़े और प्रतिष्ठित हिन्दी टेलीविजन न्यूज़ ब्रॉडकास्टर्स उसी को अपना मापदंड

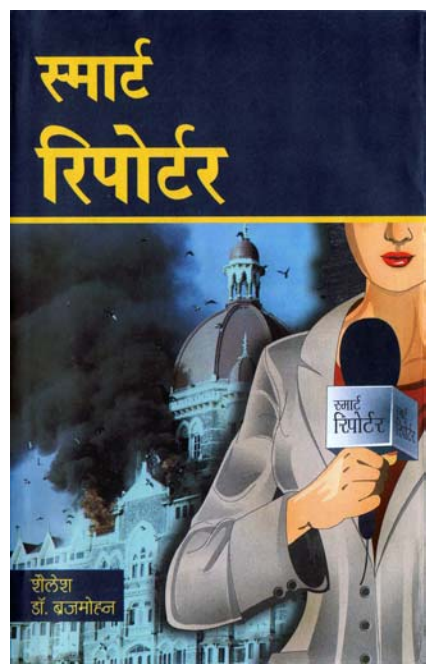

मानते हैं। मुझे बखूबी याद है, उन्होंने 1996-97 में कई बार चले ट्रेनिंग सेशन और डेस्क पर स्क्रिप्ट से जूझते हुए बताया कि आपकी भाषा में वाक्य विन्यास 6 शब्दों से ज्यादा नहीं होना चाहिए और हमारी लंबी-लंबी 3 पन्नों वाली स्क्रिप्ट को अपनी सूझबूझ और काबिलियत के आधार पर 70-75 सेकेंड की स्टोरी में तब्दील करने में उन्हें महारत हासिल थी। हम कई बार नाराज़ भी होते थे कि इन्होंने तो सब काटपीट दिया, लेकिन रात 10 बजे जब अपनी स्टोरी टीवी स्क्रीन पर ऑन एयर देखते थे तो संतोष से लबरेज होते थे कि हमने अपनी लंबी स्क्रिप्ट में जो बातें कहनी चाही थीं, वो सब यहां उनकी छोटी एडिटेड स्क्रिप्ट में बखूबी सुरक्षित थीं।

टेलीविज़न और खासकर टेलीविज़न न्यूज़ कम से कम समय में रफ़्तार के साथ-साथ सटीक चाक्षुष माध्यम है। न्यूज़ के इस माध्यम में ज्ञान और बौद्धिकता के लिए बहुत कम जगह है। यह घनघोर मेहनत और मशक्कत का माध्यम है। यह विजुअल और म्यूजिक के माध्यम से आपको खबरों की दुनिया की सैर कराता है, इसलिए यहां ज्ञान और भावुकता से ज्यादा संवेदना और बौद्धिकता से ज्यादा तत्पर/त्वरित विवेक की पहचान है। इस माध्यम से खब़रों के साथ रफ़्तार का होना ज़रूरी है, इसलिए यहां विश्वसनीयता के खतरे भी ज्यादा हैं। इस विश्वसनीयता को बनाए रखने का जिम्मा रिपोर्टर के पास ही है, इसलिए इस किताब की अहमियत और ज्यादा हो जाती है। यह किताब इस ओर बहुत संजीदगी से इशारा करती है और इसलिए अध्याय 5 से लेकर अध्याय 11 तक की विषयवस्तु में समाचार संग्रह, स्टोरी प्लानिंग और स्ट्रक्चर, साक्षात्कार, स्क्रिप्ट और फील्ड में रिपोर्टर जैसे अध्यायों में अनछुए पहलुओं पर बहुत बारीकी से और संजीदगी के साथ प्रकाश डाला गया है। विश्वास मानिए, अभी से पहले इन उपर्युक्त तथ्यों पर इस नजरिए से कम से कम हिन्दी में तो किसी ने ध्यान नहीं दिया। यहां एक महत्त्वपूर्ण बात। अध्याय 10 में स्टोरी स्ट्रक्चर शीर्षक के तहत लेखकों ने टेलीविज़न न्यूज़ के उन तमाम आयामों को तफसील में बताया है जो ज्यादातर इस्तेमाल में हैं; लेकिन पता नहीं कैसे यहां वे 'वॉक-थ्रू स्टोरी' स्ट्रक्चर की चर्चा भूल गए हैं। मसलन, एक रिपोर्टर किसी ऐसी जगह पहुंचता है, जहां वह है, उसका कैमरा है और कुछ नहीं। फिर दर्शकों तक 2-3 मिनट के न्यूज़ कैप्सूल के तौर पर जो खब़र पहुंचती है, वो वॉक-थ्रू है और आजकल इसका प्रचलन काफी आम है, लेकिन इस फॉर्मेट की चर्चा का न होना यहां खटकता है। लगे हाथ एक और मुद्दे की बात। टेलीविज़न न्यूज़ और खासकर 24 घंटों के निजी सैटेलाइट चैनलों में ब्यूरो नेटवर्क की अहम भूमिका होती है। न जाने क्यों, यह पहलू भी अनछुआ रह गया है कि ब्यूरो नेटवर्क में आने वाले रिपोर्टरों की चुनौतियां क्या हैं और वो न्यूज़ सेंटर में स्थापित रिपोर्टरों से कैसे अलग होते हैं? इसके अलावा एक और तरीका आजकल बहुत लोकप्रिय है। यह नेटवर्क स्टोरी या नेटवर्क रिपोटीर्स के रूप में जाना जाता है, यानी किसी एक खास रिपोर्ट में यदि 03 या 04 अलग-अलग रिपोर्टर्स शामिल हुए हैं तो ये नेटवर्क स्टोरी का स्ट्रक्चर है और इसमें हर रिपोर्टर रिले रेस दौड़ने वाले उस धावक की तरह है जहां हर एक को समान रफ्तार और क्षमता के साथ परफॉर्म करना होता है और अगर एक रिपोर्टर भी लड़खड़ाया तो रिपोर्ट धराशाई। फिर इस तरह की रिपोर्टिंग की चुनौतियां और उनके आयाम क्या हैं? स्टार न्यूज़ पर चलने वाला एक बहुत ही लोकप्रिय बुलेटिन-24 घंटे, 24 रिपोर्टर उसी कड़ी की एक शानदार मिसाल है, जो स्टोरी न होकर पूरा का पूरा बुलेटिन है और दर्शकों का यह खासा पसंदीदा कार्यक्रम है।

टेलीविजन न्यूज़ बाइट क्लचर का माध्यम है। टेलीविज़न की खबरों या स्टोरी में बाइट (व्यक्ति विशेष द्वारा दिया गया वक्तव्य) का खासा महत्त्व है। इसी बाइट कल्चर का विलक्षण प्रयोग लेखकद्वय ने इस पुस्तक में भी किया है। अध्याय की बारीकियों से रू-ब-रू कराने के लिए व्यावहारिक अनुभवों का सहारा कुछ वरिष्ठ पत्रकारों के हवाले से लिया है। बाइट के फार्म में उन्हें वक्तव्य के रूप में लगभग हर अध्याय में शामिल किया गया है। वैसे तो शैलेश ने अपनी प्रस्तावना में कई वरिष्ठ पत्रकारों के नाम गिनाए हैं, लेकिन जो तीन प्रमुख नाम बाइट के बहाने लगातार चलते हैं वे—परवेज़ अहमद, आशुतोष और प्रबल प्रताप सिंह हैं। यहां एक नाम बहुत झटके से खटकता है और वह नाम प्रबल प्रताप का है। प्रबल की जगह अगर उन्होंने दीपक चौरसिया को लिया होता और उसके वक्तव्य/अनुभव शामिल किए होते तो मेरी समझ से किताब की धार और धारा देखते ही बनती! प्रबल के पास आज भी बेचने के लिए उनका 10-12 साल पुराना अफगानिस्तान ही है; जबकि दीपक की फेहरिस्त लंबी ही नहीं, अनगिनत है। जब आप ऐसे किसी किताब को भारतीय टेलीविज़न फलक पर डालते हैं तो सरलीकरण और पूर्वाग्रह से बचने की जरूरत होनी चाहिए, अन्यथा सरोकारों से भरा न्याय नहीं होता। मसलन, तुलनात्मक तौर पर ही देखें तो यह एहसास होता है कि दो कमेंटेटर तो धोनी (आशुतोष) और युवराज सिंह (परवेज़ साहब) हैं, मगर तीसरा मुझे मुहम्मद कैफ (प्रबल) सा लगता है। यहीं अगर दीपक चौरसिया या रवीश कुमार या पुण्य प्रसून वाजपेयी होते तो आप इसकी शानदार बानगी के कायल होते!

किताब में कई तस्वीरें भी हैं, जो स्टूडियो और न्यूज़ रूम से लेकर साक्षात्कार और फील्ड सिचुएशन या रिपोर्टर की स्थिति को दर्शाती हैं, लेकिन यहां ज्यादातर तस्वीरें जबरन या बेमानी लगती हैं। तस्वीरों के साथ कैप्शन का अभाव भी खटकता है। इसके अलावा इन तस्वीरों का संदर्भ भी स्पष्ट नहीं है। तस्वीरों को पाठकों के विवेक पर छोड़ा गया है कि स्क्रीन टेक्स्ट को देखकर आप अनुमान लगा लें कि ये तस्वीरें क्या कहना या बताना चाहती हैं? इससे भी ज्यादा जो बात खटकती है, वह यह है कि किताब में छापी गई सारी तस्वीरें एक ही हिन्दी न्यूज़ चैनल IBN-7 की हैं। उन्हीं के स्क्रीन, रिपोर्टर, एंकर, स्टूडियो, इंटरव्यू, प्रोड्यूसर और न्यूज़ रूम। कैजुअल एप्रोच (सरलीकरण) की ये पराकाष्ठा है। इसलिए सरसरी निगाह में देखने पर ये किताब IBN-7 का मैन्युअल या स्टाइलबुक का आभास देती है। अब यहां दो बातें। यदि तस्वीरें लेनी ही थीं तो आज तक, एनडीटीवी इंडिया और स्टार न्यूज़, हर जगह से लेकर डालते तो इस एकरसता से बचा जा सकता था और संतुलन भी होता, लेकिन इससे भी बेहतर यह होता कि इन तस्वीरों की जगह टेलीविजन न्यूज़ व्यवहार और व्यापार से जुड़े मानकों, मसलन सैटेलाइट, अपलिंक, डाउनलिंक, ओबी वैन, एमसीआर, पीसीआर के साथ-साथ इस व्यवस्था से जुड़ी और उन्हें चलाने वाली

मशीनरी और संसाधनों की तस्वीरें या ग्राफिक्स शामिल किए जाते। विदेशों में इस तरह की व्यवहार कुशल शैक्षणिक व्यावसायिक पुस्तकों का खासा प्रचलन है। हमें इस मसले पर उनसे सीख लेने की जरूरत है। ऐसा लगता है कि किताब के एक लेखक ब्रजमोहन, चूंकि IBN-7 से जुड़े पत्रकार/प्रोड्यूसर हैं सो उन्होंने अपनी जगह का भरपूर इस्तेमाल किया है। चाहे मसला प्रबल के चयन का हो या सामग्री इकट्ठा करने का।

किताब में अध्याय 16 और 17 रिपोर्टर की लक्ष्मण रेखा और टेलीविजन के तकनीकी शब्द इसकी जान हैं। हालांकि इन तमाम खूबियों के बावजूद भारतीय टेलीविजन, खासकर हिन्दी न्यूज़ चैनलों में अवांछित आए कुछ कंटेंट प्रोफाइल और 'ग्रे-मैटर' को नज़र अंदाज करने की कोशिश हुई है, लेकिन उससे कुछ खास फर्क नहीं पड़ता, हालांकि एक रिपोर्टर की साख और न्यूज़ चैनलों की विश्वसनीयता जैसे ज्वलंत मुद्दे इससे जुड़े रहे हैं।

यहां एक और बात का जिक्र मैं लाज़िमी समझता हूं। किताब के आखिर में अगर टेलीविज़न न्यूज़ और प्रोग्रामिंग में फर्क पर एक अध्याय जोड़ देते तो उन रिपोर्टरों के लिए वह अध्याय खासा सहायक होता कि अपनी 02 मिनट की रिपोर्ट को 30 मिनट के प्रोग्राम में कैसे बदला जाए? इसके अलावा किताब में 20-25 पृष्ठ और बढ़ाते हुए अगर 02-03 'टॉप टॉक्ड' स्टोरी की स्क्रिप्ट भी समाहित कर दी जाती तो ये 'टॉप प्रेफर्ड रिपोर्टर्स मैन्युअल' का दर्ज़ा पा जाती। हालांकि किताब के पृष्ठ 95-97 पर दो स्क्रिप्ट फॉर्मेट शामिल हैं मगर वह सिर्फ खानापूर्ति का अहसास कराती हैं।

बहरहाल, इन तमाम बिन्दुओं के बावजूद हिन्दी टेलीविजन रिपोर्टरों के लिए यह एक अभूतपूर्व शानदार तोहफा है। किताब की छपाई, गेटअप, साज-सज्जा और प्रस्तुतीकरण बेहतर है और वाणी प्रकाशन अगर इससे आधी कीमत के साथ पेपर बैक संस्करण भी बाज़ार में उतारे तो दूर-दराज में बैठे कस्बाई पत्रकारों का भी भला होगा। आखिर में, पुस्तक विमोचन समारोह में प्रेस काउंसिल के अध्यक्ष और न्यायविद् मार्कंडेय काटजू ने इस किताब को टेलीविज़न पाठ्यक्रम में शामिल करने की सलाह दी तो इसे गंभीरता से लेना चाहिए और अगर इसे अमली जामा पहना दिया गया तो हिन्दी टेलीविजन न्यूज़ रिपोर्टिंग का सर्वांगीण विकास ही होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

स्मार्ट रिपोर्टर/शैलेश/डॉ. ब्रजमोहन/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 295

बी-902 आशियाना अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1 एक्सटेंशन, दिल्ली-110091, मो. 9891405777

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक

जनवरी-मार्च 2012, मूल्य : ₹ 100

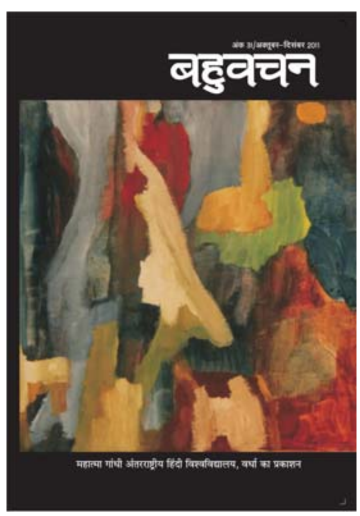

जनवरी-मार्च 2012, मूल्य : ₹ 50

मार्च-अप्रैल 2012, मूल्य : ₹ 20

पत्रिका की सदस्यता के लिए संपर्क करें :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र) फोन : 07152-232200, 232306

ज्ञान शांति मैत्री